सिद्धयोग

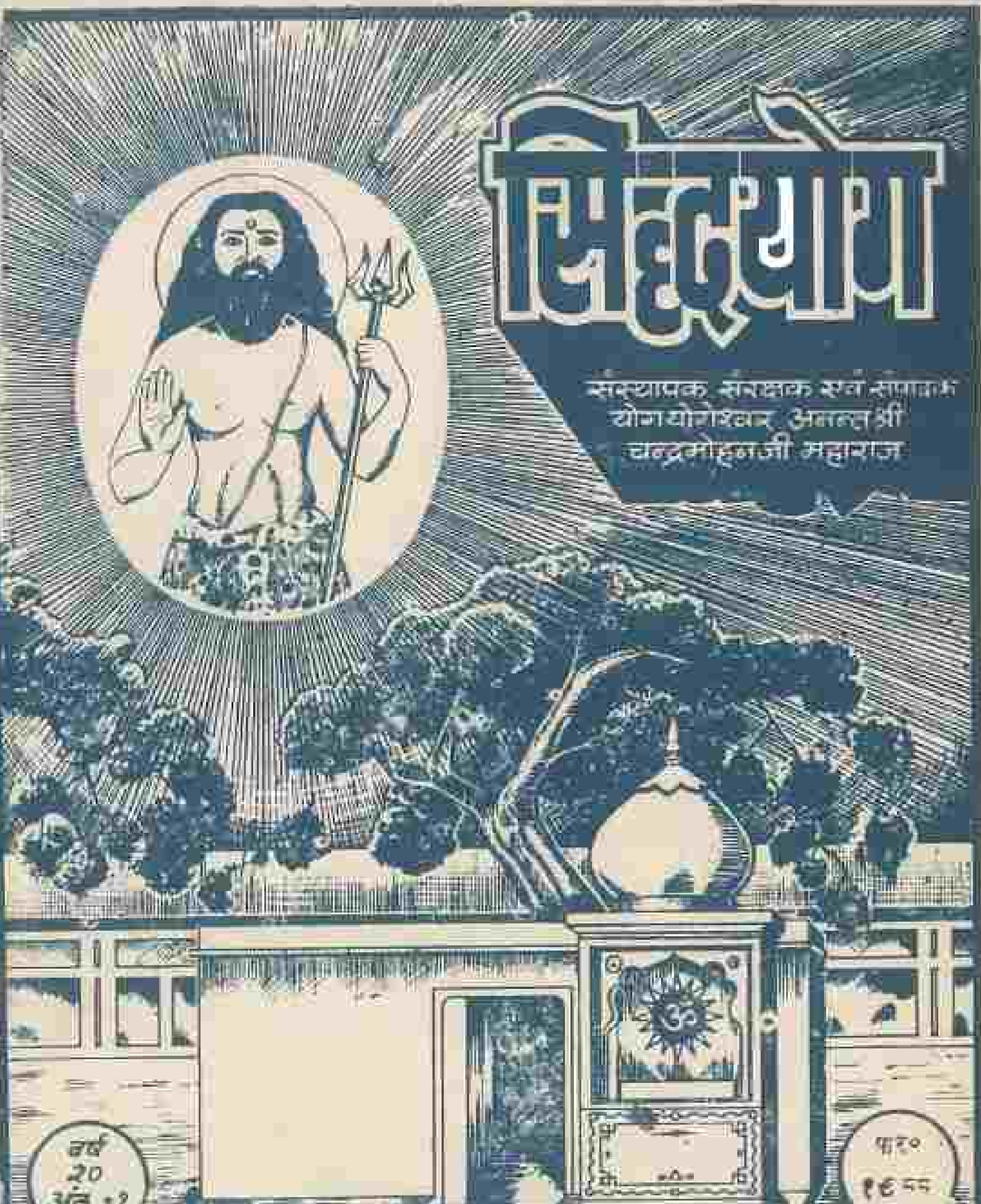

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सॅंवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा सवाई

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

फरवरी
१९८८

❀ न तं विदाथ (प्रार्थना) १

❀ अनार्य जुष्टम् (विशेष लेख) २
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

❀ गीता में श्रद्धा का स्थान ६
स्वामी श्री सहजानन्द सरस्वती

❀ गीता के उपदेश का रहस्य ९
डा० श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र 'विनय'

❀ एकनिष्ठ गुरु-भक्ति का प्रभाव १३
प्रेषक—श्री केशव उपाध्याय

❀ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् २०

❀ पवित्र कर्म और उनका प्रतिफल २२
श्री कर्मनारायण कपूर

❀ भव रोग वैद्य २७
श्री डा० विजयसिंह

❀ कुछ आध्यात्मिक प्रसंग ३१
श्री के० डी० उपाध्याय

❀ सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् ३४

❀ ज्ञान और श्रेष्ठता ३६
श्री देवेन्द्र परमार्थी

❀ समय का मूल्य ३८
श्री अमित प्रताप नारायणसिंह

❀ परम धर्म योग ४०
श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

❀ हिरण्मयेन पात्रेण ४५
श्री मन्नारायण

❀ भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषताएँ ४८
दादा धर्माधिकारी

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २० / अङ्क ११	ध्यात्वा ध्यात्वा पवित्रं परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	फरवरी १९८८

❀ न तं विदाथ ❀

न तं विदाथ यऽइमाजजानान्यद्युष्माकमन्तरंबभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽउक्थशासश्चरन्ति॥

यजु० १७/३१

अर्थात्

हे जीवो (न तं......जजान) जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनानेवाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते हो। इसी हेतु से तुम (नीहारेण) अत्यन्त अविद्या से (प्रावृता जल्प्या) आवृत्त मिथ्यावाद नास्तिकत्व बकवाद करते हो। इससे दुःख ही तुमको मिलेगा, सुख नहीं। तुम लोग (असुतृपः) केवल स्वार्थ साधक प्राण-पोषण मात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो। (उक्थशासश्चरन्ति) केवल विषय-भोगों के लिए ही अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो और जिसने ये सब भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परब्रह्म से उलटे चलते हो, अतएव उसको तुम नहीं जानते। जो (युष्माकमन्तरं बभूव) तुम्हारे (बिल्कुल निकट) अन्तर् में ही विराजमान है।

अनार्यजुष्टम् !

पाण्डव कुल-भूषण अद्वितीय योद्धा और धनुर्धारी अर्जुन ने महाभारत के युद्ध-क्षेत्र में जब एक-दूसरे के विनाश के लिए तत्पर दोनों पक्षों की सेनाओं के बीच में खड़े होकर अपने ही पूजनीय जनों को निहारा और मोह तथा शोक से ग्रस्त होकर "विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्न मानसः" जैसी स्थिति में अपने को लाकर खड़ा कर लिया तथा बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अपने नायक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से कह दिया—'मैं अब युद्ध नहीं करना चाहता, यदि मेरे शत्रु मुझ पर प्रहार करके मुझे मार भी डालें तो भी मैं अपना भला इस प्रकार मर जाने में ही समझता हूं, न कि युद्ध करके, राज्य-सुख भोगने में।' अर्जुन की ऐसी मनः स्थिति का अनुभव करके जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने यह समझ लिया कि अर्जुन अपने कर्त्तव्य-पालन के स्वधर्म से पराङ्मुख हो चुका है। हृदय की दुर्बलता ने उसे पस्त-हिम्मत बना डाला है। पुरुषत्व की जगह क्लीवता उसके चारों ओर आकर नाचने लगी है, इसीलिए शौर्य द्वारा अर्जित विजयश्री की अपेक्षा वह पापरूपिणी पराजय को अपनी प्रेयसी बना लेना श्रेयस्कर समझने लगा है। भगवान् यह भी जान रहे थे कि अपनी इस पलायनवादी मनोवृत्ति के वशीभूत यह अर्जुन अपने को ही निन्दित और कलङ्कित नहीं करेगा, अपितु इससे उसका स्वधर्म, कुल-धर्म, जाति-धर्म और राष्ट्र-धर्म सभी कुछ सदा के लिए निन्दित और कलङ्कित बनकर रह जायगा।

भगवान् को यह भी समझने में देर नहीं लगी कि अर्जुन—वह अर्जुन जो अब तक अनेक युद्धों में अपने पौरुष और पराक्रम का प्रशंसनीय परिचय दे चुका है-क्यों सहसा आज इस प्रकार की पराङ्मुखता का शिकार हुआ है, वह आज तन से नहीं मन से मर गया है। उसके मन की मृत्यु को ही भगवान् ने 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं' की संज्ञा दी है। इसीलिए

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वैदिक साहित्य में 'आर्य' 'अनार्य' दो शब्द आते हैं। आर्य कहते हैं श्रेष्ठ आचार वाले व्यक्ति को और अनार्य कहते हैं बुरे आचरण वाले व्यक्ति को। बुरे आचरणों और बुरे क्रियाकलापों का जो अनुसरण करते हैं उन्हें 'अनार्य' कहा जाता है। स्वधर्म से विमुख बने अर्जुन को पलायनवादी वृत्ति अपना लेने पर भगवान् कृष्ण ने भी उसके आचरण को अनार्य जुष्टम् की संज्ञा दी है। भगवान् के इसी वाक्य को आधार बनाकर प्रस्तुत लेख में पूज्य श्री गुरुदेवजीने शंकाशील दुर्बल मन वाले व्यक्तियों को विशेषकर योगारूढ़ होने वाले साधकों को यह परामर्श दिया है कि वे दैवी-सम्पदा को अपनाकर आर्य आचरण का ग्रहण करें, मन को सशक्त, सबल और दृढ़ निश्चयी बनायें न कि दुर्बल मन वाले अर्जुन की तरह पलायनवादी मनोवृत्ति अपनाकर नीचे गिरने की कोशिश करें। ध्यान देने योग्य है गुरुदेवजी का यह सत्परामर्श। —सं० सं०

उन्होंने सारी स्थिति को समझकर और युद्ध-क्षेत्र में उसके हृदय में समाई पलायनवादी मनोवृत्ति को पहचान कर उसे सम्बोधित करते हुए कहा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ,
नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं,
त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

—गीता २/२

अर्थात्—हे अर्जुन ! तू पौरुषहीनता (नामर्दी) मत दिखा, यह तुझे शोभा नहीं देता। तू तो परंतप है—दुश्मनों को तपाने वाला है, इस प्रकार की मानसिक दुर्बलताको छोड़कर कर्त्तव्य-पालन के लिए खड़ा होजा।

इससे पूर्व के श्लोक में भी भगवान् ने उसे सावधान करते हुए कहा है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं,
विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्य-
मकीर्तिकरमर्जुन ॥

—गीता २/२

अर्थात्—हे अर्जुन ! ऐसे संकट के समय में—लड़ाई के मैदान में तेरेमें यह गंदगी कहाँ से आ गई ? गंदगी भी ऐसी जिसे श्रेष्ठ, भले अथवा आर्य लोग कभी अपनाते नहीं। यह तो ऐसी है जिससे अपयश और अधोगति ही तुझे प्राप्त होगी, उच्चावस्था नहीं। तेरा यह आचरण अनार्यों जैसा है। उत्तम, श्रेष्ठ आर्यजन कभी ऐसे अकीर्तिकर अशोभनीय आचरण को नहीं अपनाते। कर्त्तव्य-पालन के दायित्व से मुँह मोड़कर भाग खड़ा होना आर्यों का नहीं अनार्यों का काम हुआ करता है। ऐसे आर्यत्व से विहीन कार्य 'अनार्य जुष्टम्' कार्य कहे गये हैं। ऐसे 'अनार्य जुष्टम्' कार्योंके करने से किसी भी मनुष्य को विजय-श्री की प्राप्ति नहीं हुआ करती।

भगवान् के इस उद्बोधन का अर्थ और अभिप्राय यदि हम गहराई से समझने का यत्न करें तो निश्चित रूप से यह सत्य हमारे जीवन में समाहित हो जाना चाहिए कि श्रीमद्भगवद्गीता में जगत्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को निमित्त बनाकर जो कुछ भी उद्बोधन दिया है वह प्रत्येक उस मनुष्य के लिए है जो जीवन के महाभारत में सङ्घर्षरत रह कर सुकीर्ति और विजय-श्री का वरण करना चाहता है। कीर्तिकर यशस्वी जीवन निश्चित रूप से वे ही अर्जित कर पाते हैं, जो मन की दुर्बलता के शिकार न होकर साहस और पौरुष का सम्बल लेकर सदा कर्त्तव्य-परायण बने रहते हैं। चाहे समाज-सेवा का क्षेत्र हो या आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र हो सर्वत्र लक्ष्य की प्राप्ति हमें तभी हो सकती है, जब हम निश्चित और दृढ़ सङ्कल्प लेकर अपने मानसिक धरातल को परिष्कृत और साफ-सुथरा बनालें। ऐसा तभी हो सकता है जब हम अनार्योचित आचरणसे दूर हटकर आर्यत्व (श्रेष्ठत्व) के वरण करने के लिए निरन्तर सजग और सचेष्ट रहें। यौगिक जीवन व्यतीत करने वाले साधकों को यम और नियमों के जिन महाव्रतों को धारण करने की

अनिवार्यता बताई गई है, ये सब साधक को आर्यत्व की ओर ले जाने वाले साधन ही तो है। जो साधक यम और नियमों के व्रतों रूपी लक्ष्मण रेखाओं से मर्यादित व सुरक्षित बनाये रखता है, वह कभी भी हृदय दौर्बल्य का शिकार होकर अनार्यजुष्ट जैसे गर्हित आचरण को नहीं अपनाता। दैवी सम्पदायें ऐसे साधक के मन-मन्दिर में सर्वदा समायी हुई रहती है। आसुरी वृत्तियाँ जो साधक को अनार्य जुष्टम् जैसे आचरणों की ओर झुका देती है इसकी ओर झाँकने नहीं पातीं। ऐसी दशामें आसुरी और अनार्य वृत्तियों से अछूता रहकर साधक अपने आचरण को उज्ज्वलतम् बनाकर स्वयं की साधना को दृढ़ भूमि पर अवस्थित कर लेता है। 'तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु' की यह वैदिक सूक्ति सदा उसके ओठों पर गुञ्जित रहा करती है।

हृदय दौर्बल्य को ही दूसरे शब्दों में मानसिक दुर्बलता कहकर पुकारा जाता है। दुर्बल मन वाले लोग ही संशयशील अथवा संशयात्मा कहे जाते हैं। भगवान्ने अर्जुनको आगे अध्याय ४ श्लोक सं० ५ श्रीमद्भगवद्गीता में यह भी समझाया है कि संशयात्मा विनश्यति अर्थात् जो संशयात्मा होते है वे विनाश को प्राप्त हो जाते है। लक्ष्य की प्राप्ति वे नहीं कर पाते, चाहे जीवन-निर्वाह का क्षेत्र हो अथवा आध्यात्मिक साधना का। सर्वत्र मन को दृढ़ निश्चयी और संकल्पवान् बनाये रखने की जरूरत है। जगद्गुरु आचार्य शङ्कर ने भी इस उक्ति का समर्थन यह कहकर किया है कि विश्व-विजयी वही हो सकता है, जिसने अपने मन को जीत लिया है। जो मन का विजेता नहीं है वह विश्व-विजेता हो ही नहीं सकता। मन के द्वारा ही शरीर के सारे क्रिया-कलापों का संचालन हुआ करता है इसलिए मन को पवित्र और संकल्पशील बनाने की प्राथमिक आवश्यकता को नजरंदाज नहीं करना चाहिए। प्रश्न सामने यह आता है कि वे साधन क्या है, जिनसे मन को दृढ़ निश्चयी और संकल्पशील बनाया जा सकता है? वेद भगवान् का आदेश है कि मन को सद्भावनाओं और शिव संकल्पों से पूरित रखना ही उसे शक्तिमान् और बलशाली बनाने का एकमात्र उपाय है। यजुर्वेद के "तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु" आदि मन्त्र हमारे इस कथन के प्रमाण हैं। योग-दर्शन का प्रारम्भ भी तो योगश्चित्त-वृत्ति निरोधः, शीर्षक सूत्र से करके आचार्य पतञ्जलि यही तो बताने जा रहे हैं कि समाधि के अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करने वाले साधकों का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि वे अपनी चित्तकी वृत्तियों का, उन वृत्तियों का जो उसे अधोगामी बनाकर नीचे की ओर ले जाना चाहती है परम प्रभु के आराधन में लगाकर उन्हें उस दिशा से हटा लेने का प्रयास करे। इस प्रयास की सफलता में योगांगों का परिपालन विशेष रूप से सहायक बनता है। यम-नियम आसन, प्राणायाम धारणा ध्यान आदि सभी का आलम्बन साधक के मन को ऊँचे से ऊँचे धरातल पर पहुँचाकर उसे लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की मानसिक कमजोरी को दूर करने के लिए ही उसे डाटते हुए कह रहे हैं—"क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परन्तप:" क्लैब्यं मास्मगम—हे अर्जुन! मन की निकृष्ट निर्बलता को दूर करके खड़ा हो जा और पुरुषत्व का वरण करके नपुंसकत्व का त्याग कर दे"। इस विश्वास के साथ ही भगवान् ने अर्जुन को कहा था कि मन की दुर्बलता को यदि यह परित्याग कर देगा तो निश्चय ही इस धर्म युद्ध में विजयश्री का वरण कर लेगा। हुआ भी यही कि इस ऐतिहासिक युद्ध में अर्जुन और उसके दल ने शत्रुओं को पराजित करके अन्त में प्रशंसनीय विजय-श्री का वरण किया।

श्रीमद्भगवद्गीता के इस अमूल्य कथोपकथन का जो जगत्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और उनके शिष्य अर्जुन के बीच कुरुक्षेत्र के युद्धमें हुआ—सारभूत तात्पर्यमात्र इतना है कि मनुष्य यदि अनन्त जन्मों के संस्कारों के फलस्वरूप इस धरती पर नर-देह लेकर आया है तो उसे सुख, शान्ति, समृद्धि, सुकीर्ति और सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब वह शिव-सङ्कल्पमना होकर अपने आचरणों को परिष्कृत और उज्ज्वल बनाये तथा इस बात का सदा ध्यान रखे कि उसके मन में कभी भी किञ्चितमात्र दुर्बलता न आने पावे। आसुरी वृत्तियाँ उसे घसीटकर तभी पतन के गहरे गर्त में ले जाकर डालने को तत्पर हो जाती है, जबकि दैवी शक्तियों से विमुख होकर मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार आदि का सहारा लेकर 'किंकर्तव्य विमूढ़' हो जाता है और अपने स्वधर्म-पालन के दायित्व से पीछे हटकर पौरुषहीन और पलायनवादी बन जाता है। निश्चय ही कर्त्तव्य से विमुख होना अनार्यों का ही कार्य हुआ करता है। भगवान् ने इसीको अनार्य जुष्टम् की संज्ञा दी है। अपने जीवन में प्रत्येक मनुष्य को श्रेष्ठ आचरणों का ही अनुसरण करना चाहिए। ऐसे आर्य अथवा श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण ही लोक में आदर्श एवं अनुकरणीय बन जाया करते हैं, जैसा कि स्वयं भगवान ने कहा है—

यद्यदा चरति श्रेष्ठ:
तत्तदेवेतरोजन: ।
स यत्प्रमाणं कुरुते,
लोकस्तदनुवर्तते ॥

—गीता ३/२१

अर्थात्—श्रेष्ठ लोग जैसा-जैसा आचरण करते हैं, लोक में उन्हीं का अनुकरण होता है। 'अनार्य जुष्टम्' जैसे कर्मों का नहीं।

सात्विक कर्ता

सात्विक कर्ता के लक्षण बताते हुए भगवान् ने छ: बातें कही हैं—आसक्ति और अहंकार—इन दो बातों का त्याग करना, धैर्य और उत्साह—इन दो बातों को धारण करना तथा सिद्धि और असिद्धि—इन दो बातों में निर्विकार रहना। इन छ: बातों में से मनुष्य-भाव के लिए दो बातें मुख्य हैं—धैर्य और उत्साह। जो कार्य स्वीकार किया है, उसमें डटे रहना 'धैर्य' है और उस स्वीकृति के अनुसार कार्य में तत्पर रहना 'उत्साह' है।

गीता में श्रद्धा का स्थान

❀ स्वामी श्री सहजानन्द सरस्वती

गोल-मोल बातें करना या कहना गीता की मान्यता के खिलाफ है। स्पष्टवादिता गीताकार का मुख्य लक्ष्य रहा है। श्रद्धा के विषय में भी साफ और बेलाग बात कहना उसकी अपनी विशेषता है। यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा,
देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव,
तामसी चेति तां शृणु ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो,
यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

—गीता १७/२-३

इसका आशय है कि आदमियों की श्रद्धा स्वभावतः तीन ही तरह की होती है—सात्विक, राजस और तामस। सत्वगुण के तारतम्य के हिसाब से ही सबों की श्रद्धा होती है और आदमी को तो श्रद्धामय ही समझना चाहिए। इसीलिए जिसकी जैसी श्रद्धा हो वह वैसा ही समझा जाय। इसका निचोड़ यह है कि जिसका हृदय सत्व-प्रधान जिसमें सत्वगुण की प्रधानता है—वह सात्विक आदमी है। जिसमें सत्व दबा हुआ है और रजोगुण की प्रधानता है वह राजस है। जिसमें सत्व बहुत ही अल्प होनेके साथ रजोगुण भी दबा हुआ है और तमोगुण प्रधान ही है वही तामसी मनुष्य होता है। जैसा मनुष्य वैसी श्रद्धा या जैसी श्रद्धा वैसा ही मनुष्य। यही सिद्धान्त मानवीय होने के कारण जैसी ही श्रद्धा के साथ काम किया जायगा वह वैसा ही भला या बुरा होगा। सात्त्विक श्रद्धा वाला बहुत अच्छा, राजस वाला बुरा और तामस वाला बहुत ही बुरा समझा जाना चाहिए।

इसका मतलब समझना होगा कि हरेक कर्म का करने वाला इस परिस्थिति पर तो होता नहीं कि वह विद्वान हो, विद्वानों के बीच में ही रहे। पढ़ने-लिखने की पूरी सामग्री उसे मिले, उसकी बुद्धि बहुत ही कुशाग्र हो, वह कभी न भूलकर सके—ऐसा होने पर वह मनुष्य ही क्यों हो? और उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का झमेला क्यों उठे? वह तो सब कुछ जानता ही है। वह शास्त्रों के वचनों के अनुसार कार्य करे, यह तो ठीक है—मगर सवाल तो यह है न कि उन वचनों का अर्थ वह समझे कैसे? किसकी बुद्धि से समझे? कल्पना कीजिये कि मनु ने एक वचन कर्त्तव्य के बारे में लिखा है जिसका अर्थ समझना जरूरी है, क्योंकि बिना अर्थ जाने अमल होगा कैसे? तो वह अर्थ मनु की बुद्धि से समझा जावे या करने वाले की अपनी बुद्धि से—यदि पहली बात हो तो वह ठीक-ठीक समझा तो जा सकता है, इसमें शक नहीं। मगर करने वाले के पास मनु की बुद्धि है

कहाँ ? यह तो मनुके पास ही थी और उसके साथ ही चली गई।

अब यदि यह कहें कि करने वाला अपनी ही बुद्धि से मनु के वचन का भाव समझे, क्योंकि मनु की बुद्धि उसमें होने से तो वह भी स्वयं मनु बन जायगा और समझने की जरूरत उसे रहेगी ही नहीं, तो दिक्कत यह होती है कि अपनी बुद्धि से मनु का आशय कैसे समझे ? जो चीज मनु की बुद्धिमें समाई नहीं वैसे ही उसकी बुद्धि में तभी समा सकती है, जब उसकी भी मनु जैसी बुद्धि हो मगर यह तो असम्भव है ऐसा कह ही चुके हैं। सभी लोग मनु कैसे बन जायेंगे। फलतः जैसा समझेगा गलत या सही वैसा ही ठीक होगा। दूसरा उपाय है ही नहीं। फिर तो वैसा ही गलत या सही करेगा भी। किया भी आखिर क्या जाय ? मगर तब शास्त्र की कीमत क्या रही ? एक ही शास्त्र वचन के हजार अर्थ हो सकते हैं। अपनी-अपनी समझ के अनुसार, ऐसी दशा में यह एक खासा तमाशा ही हो जायेगा।

एक बात और भी है—यदि मनु की समझ के अनुसार चलना हो तो बुरे-भले का दोष-गुण मनुपर न जाकर करने वाले पर क्यों जाये ? वह अपनी समझ से तो कुछ करता नहीं। उसकी अपनी समझ को तो कर्म-अकर्म के सम्बन्ध में कोई स्थान है ही नहीं, उसे मनु का आदेश ठीक-ठीक समझना भी है—और यह बात नहीं है तो शास्त्र के आदेश और विधि-विधान का प्रयोजन क्या है ? यदि मनु के माथे गुण-दोष न लदें, इस ख्याल से करने वाले को अपनी ही बुद्धि से समझना-करना है तब शास्त्र बेकार है। यह ठीक है कि जिसको अधिकार दिया गया है, उसी पर जवाब-देही आती है। मगर यह जवाब-देही बिना शास्त्र के भी आ ही जायेगी। चाहे शास्त्र की बातें अपनी अक्ल से समझकर करे या बिना शास्त्र-वाक्य के अपनी ही समझ से जैसा जँचे वैसा ही करे। दोनों का मतलब एक ही हो जाता है। फलतः शास्त्र खटाईमें ही पड़ा रह जाता है। यही समझकर अर्जुन ने शङ्का की थी कि 'जो लोग शास्त्रीय विधि-विधान का झमेला, किसी भी तरह छोड़कर श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करते हैं उनकी हालत क्या होगी ? वे क्या माने जाएँ—सात्त्विक, राजस या तामस ?'

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य,
यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण,
सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

—गीता १७/१

गीता में इसका जो कुछ उत्तर दिया गया है वह यही है कि शास्त्र की बात तो यों ही है। इसीलिये यह बच्चों को फुसलाने वाली चीज पुराने लोगों ने मानी है—'बालानामु-लालना।' असली चीज को कर्म के स्वरूप को निश्चित करती है, वह है करने वाले की श्रद्धा ही। जैसा हमारी समझमें, हमारे दिल-दिमाग में आया, वैसा ही हमने ईमानदारी से किया, यही श्रद्धापूर्वक करने का मतलब है।

यह नहीं कि समझते हैं कुछ और धारणा है कुछ और मगर डर, शर्म या लोभ वगैरह के चलते रहते हैं कुछ और ही। फिर भी श्रद्धा के नाम से पार हो जाय। श्रद्धापूर्वक करने का ऐसा मतलब हर्गिज नहीं है। तब तो अंधेरखाता ही होगा और उसी पर मुहर लग जायगी। दिल, दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदि के मेल या सामञ्जस्य की जो बात पहले कही गई है उसी से यहाँ मतलब है, उसमें जरा भी फेरफार नहीं होना चाहिए। जितना ही फेरफार होगा, उतनी ही गड़बड़ और कमी समझिये। १७वें अध्यायके अलावा ७ वें अध्याय के २०-२२ तथा नवें अध्याय के २३-२२ श्लोकों में भी यही भाव दर्शाया गया है। यदि गौर से विचारा जाय तो उनका दूसरा मतलब हो ही नहीं सकता। चौथे अध्याय के ११-१२ श्लोक भी कुछ ऐसे ही हैं।

इससे यह भी ज्ञात हो जायगा कि करने वाले पर ही उत्तरदायित्व होगा, क्योंकि समझ के साथ ही उत्तरदायित्व चलता है। दूसरीलिए रेल से आदमी कट जाने पर रेल के ऊपर उसकी जवाबदेही नहीं होती, हालाँकि काटने का काम वही करती है, किन्तु ड्राइवर पर ही होती है, उसे समझ जो है। यही कारण है कि पागल आदमी के कामों की जवाबदेही उस पर नहीं होती, वह समझकर करता जो नहीं है। यदि हमने गलत को ही सही समझकर ईमानदारी से उसे ही किया तो हम अपराधी नहीं हो सकते, यही गीता की मान्यता है। यद्यपि संसार में ऐसा नहीं होता है। मगर होना तो यही चाहिए। जो कुछ विवेचन अब तक किया गया है, उससे तो दूसरी बात उचित हो ही नहीं सकती। यह ठीक है कि एक ही काम इस तरह कई ढङ्ग से—यहाँ तक कि परस्पर विरोधी ढङ्ग से भी—किया जा सकता है और सभी करने वाले निर्दोष और सही हो सकते हैं। यदि उन्होंने श्रद्धा से किया है जैसा कि बताया गया है। युक्ति-युक्त रास्ता तो उसके लिए यही हुआ और यदि यह नई बात है तो गीता तो नई बातें ही बतलाती है।

मानव को सुख देने के लिए सारी सृष्टि ही सजी हुई है। लेकिन मनुष्य ने दुःखी रहने का निश्चय कर रखा है। अपने मन को वह जीत नहीं सका, यह उसे रुला रहा है। इसके लिए सृष्टि क्या करे? अपने को भूल जाइये। मन की अकड़ चलेगी ही नहीं। यह अहं विस्मरण योग सधा कि मन शान्त और शून्य हो जायगा।

× × × ×

चमत्कारों का बहुत विचार नहीं करना चाहिए। भगवान् की सारी सृष्टि ही चमत्कारों से भरी पड़ी है। भगवान् निरन्तर आश्वासन दे रहा है इसे देखने और समझने का।

गीता के उपदेश का रहस्य

डा० विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र 'विनय'

गीतोपदेश की प्राप्ति और श्रवण का अधिकार किसे है—यह बात स्वयं गीतासे ही स्पष्ट हो जाती है। गीताकी प्रादुर्भूति विषाद योग से होती है। विषाद तो सभी के जीवन में आता है, किन्तु सभी उसे भगवान्के समक्ष अनाकुल नहीं करते, इसलिए वह योग नहीं बन पाता। अर्जुन और दुर्योधन (ऐतिहासिक सत्य होने पर भी) आध्यात्मिक दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। अर्जुन शब्द का अर्थ है—सरल-सन्मार्ग पर चलने वाला साधक और दुर्योधन का अर्थ है—कूट-नीति का आश्रय लेकर विरुद्ध-मार्ग पर चलने वाला कलयुगी व्यक्ति। गीताके प्रथम अध्याय में अर्जुन की उपस्थिति के पूर्व दुर्योधन के चरित्र का यही पक्ष तीसरे, आठवें और दसवें श्लोकों में संकेत किया गया है। कलि-स्वरूप दुर्योधन की वाणी के ये प्रमुख चार दोष यहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—१. असत्य, २. मर्म-वेधकता, ३. चाटुपरता और ४. संदिग्धता। पाण्डवों की सेना दुर्योधन की सेना से बहुत अल्प थी, फिर भी दुर्योधन उसे महती कहता है, यह वाणी का प्रथम दोष है। इसके बाद वह 'आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गई' कहकर द्रोणाचार्य के मर्म को चोट पहुँचाता है। मानो वह उपालम्भ दे रहा हो कि 'जो आपके पुराने शत्रु द्रुपद का पुत्र था उसे आपने (अपने वध के लिए उत्पन्न हुआ जानकर भी) जो अस्त्र-विद्या सिखाई यह आपकी बुद्धिमानी नहीं थी।' 'तव शिष्येण धीमता'—पद से द्रोणाचार्य की इसी भूल पर चोट की गई है और जान-बूझकर धृष्टद्युम्न न कहकर 'द्रुपद-पुत्र' शब्द द्वारा आचार्य की वैर-वह्नि को जाग्रत करने का कूट-प्रयत्न किया गया है जो स्पष्ट है, यह द्वितीय दोष हुआ। तदनन्तर अपने पक्ष के वीरों की गणना करते समय सर्वप्रथम द्रोणाचार्य का नाम ग्रहण करना प्रकरण की दृष्टि से उचित होते हुए भी वाणी के तृतीय दोष चाटुपरता को व्यञ्जित कर देता है।

दसवें श्लोक में 'पर्याप्त और अपर्याप्त' शब्दों का अर्थ यद्यपि प्रमुख टीकाकारों ने 'हमारी सेना जीतने में कठिन तथा पाण्डवों की सेना जीतने में सुगम' किया है। किन्हीं-किन्हीं के मतानुसार इसका बिल्कुल विपरीत ही अर्थ है अर्थात् 'अपर्याप्त और पर्याप्त' शब्दों का अर्थ क्रमशः 'अल्प-शक्तिशाली और अधिक शक्तिशाली' है। दुर्योधन द्वारा जान-बूझकर ऐसे द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग वाणी का संदिग्धता-रूप चतुर्थ दोष है। इस प्रकार इस प्रसङ्ग से दुर्योधन का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। अर्जुन की वाणी सरल, संदिग्ध और उनके आन्तरिक भावोंका सुस्पष्ट प्रकाशन करती है। यही कारण है कि प्रथम अध्याय में आगे चलकर वे अपनी शारीरिक और मानसिक अवस्थाका स्पष्ट चित्रण करते जाते हैं—यही दोनों व्यक्तियों का भेद है।

विषाद तो दुर्योधन के जीवन में भी आता है किन्तु वक्रमार्गीय और बहिर्मुख होने के कारण वह 'योग' नहीं बन पाता। यही कारण है कि गीतोपदेश के समय युद्ध-स्थलमें उपस्थित रहने पर भी वह गीता का श्रवण नहीं कर पाता। गीता तो अर्जुन को ही प्राप्त होती है, जिनका विषाद भी प्रभु-समर्पित होकर 'योग' बन जाता है।

गीतोपदेश का रहस्य—यद्यपि गीता अर्जुन को प्राप्त होती है, किन्तु इसके लिए उन्हें अपने व्यक्तित्व का क्रमशः परिमार्जन करना पड़ता है। ध्यान से देखने पर समग्र गीता के उपदेश-वाक्यों को तीन शैलियों में विभाजित किया जा सकता है—(१) शास्त्रोपस्थापिका या निरपेक्ष शैली। (२) शास्त्र-व्यवस्थापिका या सापेक्ष शैली। (३) शास्त्र-निर्मापिका या विलक्षण शैली।

जहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी विशेष अभिनिवेश के केवल शास्त्र-वचनों को उपस्थित कर देते हैं, वही प्रथम शैली है, जहाँ पर 'युद्धयस्व', 'उत्तिष्ठ' आदि क्रिया-पदों द्वारा अर्जुन को सम्प्रेरित करते हुए शास्त्र-वचनों की प्रकरणानुसार (अर्थात् अर्जुन के लिए) व्यवस्था देते हैं, वहाँ द्वितीय शैली है, किन्तु जहाँ अतिशय कृपा परवशता द्वारा अपने स्वरूप, शक्ति आदि की ओर उन्मुख करके अर्जुन का सम्पूर्ण भार स्वीकार करते हैं, वहाँ अनुरूप नवीन शास्त्र-विधि का निर्माण होता है, यह गीतोपदेश की तृतीय शैली है। जो ज्ञानी है, उसके लिये शास्त्र के प्रमाण को ही उपस्थित कर देना पर्याप्त है, कर्मनिष्ठ को उचित-अनुचित कर्तव्य की व्यवस्था देना आवश्यक है, किन्तु भावुक भक्त का तो सर्वविध समर्पण स्वीकार करके उसे निश्चिन्त कर देना ही उचित होता है। हमारे विचार से इन्हीं तीन शैलियों को क्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग की संज्ञा प्राप्त हुई है।

प्रथम और द्वितीय अध्याय में अर्जुन के तीन व्यक्तित्व क्रमशः दिखलायी पड़ते हैं—

(१) पहला व्यक्तित्व अर्जुन का स्वामि-भाव है। अर्जुन रथी हैं और श्रीकृष्ण सारथि हैं, परम्परानुसार रथी सारथि को आज्ञा देता है। इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्ण से सर्वप्रथम इसी शब्दावली में बात करते हैं—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।
१/२१

अर्थात्—'हे श्रीकृष्ण ! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये।' यहाँ आगे पीछे का पूरा प्रसङ्ग अर्जुन की अहङ्क्रिया का चित्रण करता है। इस बात को वे गाण्डीव उठाकर (धनुरुद्यम्य) बड़े संरम्भ से कहते हैं। आगे भी उनकी शब्दावली यही है कि 'देखूँ कौन मुझसे युद्ध करने को आया है' आदि। इसके उत्तर में श्रीकृष्ण रथ को कथित स्थान में खड़ा करके आज्ञाकारी सारथि की भाँति यही कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तुम इन एकत्र हुए कुरुवंशियों को ओर देखो'—

उवाच पार्थ पश्यैतान्
समवेतान् कुरूनिति ।
१/२५

(२) आगे जब अर्जुन सम्यक् निरीक्षण करते हैं तब उनके अन्तःकरण की संक्रिया (चित्त) और प्रक्रिया (बुद्धि) दोनों जाग्रत होती है और वे परिस्थिति की समीक्षा करके 'तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः' श्रीकृष्ण के प्रति मित्र या सखाभाव से उपस्थित होते हैं। जैसे एक सुहृद के सामने अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति को संकोच रहित होकर कहा जाता है उसी प्रकार पार्थ भी अपनी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक दशा का वर्णन करते हुए अपनी बात रखते हैं और मानो श्रीकृष्ण को उचित सलाह देने को प्रेरित करते हैं। इस प्रसङ्ग में अनेक बार भगवान् को 'कृष्ण', 'केशव', 'गोविन्द', 'जनार्दन' आदि नामों से सम्बोधित करने में इसी सख्य भाव की व्यञ्जना है। इस भाव के अनुरूप उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण द्वितीय अध्याय में एक मित्र के प्रेरक उद्बोधन के रूप में इस प्रकार देते हैं-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं
विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः
पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं
त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
२/२/३

(३) अब आगे उनमें अपने निर्णय और भगवान् श्रीकृष्ण के इस उद्बोधन पर कार्याकार्य की विचिकित्सा उत्पन्न होती है अर्थात् अब उनका अन्तःकरण विक्रिया 'मनः' प्रधान अर्थात् भावुक हो जाता है। इस समय वे किंकर्तव्यविमूढ होकर अपने कार्पण्य-दोष का अनुभव करते हुए शिष्य भाव से भगवत्प्रपन्न होते हैं—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
२/७

इसीके बाद गीतोपदेश का आरम्भ होता है। एक गुरु जिस प्रकार विपरीत-मार्ग में भटके हुए शिक्षार्थी को डांट लगाते हुए उसे उचित सिद्धान्त पर लाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अनुशासित करते हुए कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं
प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च
नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
२/११

'अर्जुन! तुम अशोचनीयों के लिये व्यर्थ शोक करते हो, बोल तो रहे हो पण्डितों की सी शब्दावली, किन्तु हो अपण्डित ही; क्योंकि पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए दोनों के ही लिए शोक नहीं करते।'

गीता का उपसंहार भी इन्हीं तीनों भावों के अनुसार होता दिखलायी पड़ता है। अठारहवें अध्याय के ६२ वें श्लोक में भगवान्

श्रीकृष्ण कहते हैं—'पार्थ ! मैंने तुम्हें गुह्य से गुह्यतर यह ज्ञान सुना दिया, अब तुम पूरी तरह विचार करके जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो—'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।' यह निरपेक्ष शैली है। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन की इच्छा को प्रधानता देते हुए अर्जुन के प्रथमभाव (स्वामिभाव) के अनुरूप उपसंहार करते हैं, किन्तु जब अर्जुन चुप रह जाते हैं तब आगे वे मित्र भाव से पुनः सर्वगुह्यतम तथा परम वचनों के द्वारा अर्जुन का हितसंसाधन करते हुए सापेक्ष शैली में वक्तव्य का परिसमापन करते हैं, क्योंकि वे उनके परम इष्ट-मित्र हैं—'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' (१८/६४) आगे श्लोक में वे 'मन्मना भव मद्भक्तो०' आदि के द्वारा शास्त्र की व्यवस्था देते हुए शपथपूर्वक अपने कथन को पुष्ट करके अर्जुन को अपना प्रिय मानते हैं और उन्हें अपनी प्राप्ति का आश्वासन भी देते हैं—'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।' (१८/६५) तथापि अभी कुछ बात शेष रह गयी प्रतीत होती है—'तुम मुझे ही प्राप्त होगे, मैं तुमसे इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ'—यहाँ 'एव' 'माम् एव' द्वारा कुछ परोक्षभाव-सा दिखलायी पड़ता है और तभी तो विश्वास दिलाने के लिए 'प्रतिजाने'—प्रतिज्ञा करता हूँ—यह कहना पड़ रहा है। यदि गीता शास्त्र का उपसंहार यहीं हो जाता तो भक्त के उद्धार में भगवान् श्रीकृष्ण की कोई विशेष जिम्मेदारी नहीं रहती। चूँकि द्वितीय अध्याय में अर्जुन अन्ततः शिष्य बनकर प्रपन्न हो चुके हैं, अतएव अब विशेष शैली के द्वारा गुरुभाव की सार्थकता और शरणागति की सिद्धि करनी ही पड़ेगी। इसीलिए ६६ वें श्लोक में सारी कर्मविधि को छोड़कर एकमात्र अपनी शरण में आने का आदेश देते हुए शिष्य का सम्पूर्ण भार स्वीकार कर लेते तथा उसे शोकमुक्त बना देते हैं-

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

अर्जुन के व्यक्तित्व की यह यात्रा अहं के उदात्तीकरण की साधना है। अर्जुन का प्रथम व्यक्तित्व 'यावदेतान्निरीक्षेऽहम्' 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्' के रूप में जीव के अहंकार का प्रदर्शन करता है, किन्तु गीता के उक्त चरम वाक्य तक आते-आते वह सर्वान्तर्यामी प्रभु का 'अहम्' बन जाता है—'अहं त्वा मोक्षयिष्यामि।' अर्जुन के पास जो 'अहम्' था उसे जब भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वीकार कर लिया तब उनके पास केवल 'तव' अर्थात् 'तुम्हारा' ही रह गया, इसीलिये वे 'करिष्ये वचनं तव' (१८/७३) कहकर युद्ध के लिए उद्यत हो जाते हैं। अहंकार वस्तुतः परमात्मा का ही हो सकता है; क्योंकि एकमात्र वही आत्मरूप अर्थात् 'अहम्' पदवाच्य है। परिच्छिन्न जीव जब उसे अपना बना लेता है तब उसे विश्वात्मा को अस्पर्पित कर देता है तब सम्पूर्ण शोक क्षणभर में नष्ट हो जाता है, यही गीता का परम और चरम रहस्य है।

एकनिष्ठ गुरु-भक्ति का प्रभाव

प्रेषक—श्री केशव उपाध्याय

प्रस्तुत प्रसंग में अपने एक गुरु-भाई जो अनन्य निष्ठ मान्य गुरु-भक्त एवं सर्व समर्थ आराध्यदेवजी के लाड़ले बच्चे श्रीकृष्णकान्त झा के जीवन से सम्बन्धित योग-परक एक अलौकिक घटनाक्रम का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है। हमारे गुरु-भाई श्री कृष्णकान्तजी योग-प्रचार मण्डल झाँसी के सक्रिय सदस्य हैं। इस घटना-क्रम को घटित हुए करीब चौबीस-पच्चीस वर्ष हो रहे होंगे। भाई जी रेलवे विभाग में कार्यरत हैं। उस समय से लेकर आज तक हमारे उपरोक्त गुरु-भाई श्रीकृष्णकान्त जी लगभग पूरे समय रेलवेके झाँसी कार्यालयसे ही सम्बन्धित रहे। इस प्रसंग द्वारा यह तथ्य स्वतः उजागर हो जावेगा कि संकट की घड़ी में हमारे श्री सद्गुरुदेवजी महाराज अपने एक-निष्ठ योगी साधकों की किस प्रकार से प्रतिष्ठा-रक्षा किया करते हैं। प्रसङ्ग कुछ इस प्रकार बना कि श्रीकृष्णकान्तजी के विभागके किसी निम्न पदस्थ कर्मचारी की चार हजार रुपये की जमानत लेनी थी, वरना उसकी नौकरी खतरे में थी। उस कर्मचारी ने अपने विभाग में कार्यरत सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जमानत लेने की प्रार्थना की, परन्तु कोई तैयार नहीं हुआ। जब वह निराश होकर उपरोक्त भाई जी के चरणों में प्रणाम कर रोने लगा तो भाई जी ने मानवता-वश उसकी चार हजार रुपये की जमानत दे दी। परन्तु किसी का स्वभाव परिवर्तन होना तो बड़ा कठिन सा ही है। अतः अपने स्वभाव एवं वृत्तिसारूप्यता के कारण समय आने पर वह कर्मचारी जिसकी इन्होंने जमानत दी थी लापता हो गया। उस कर्मचारी पर विभागीय कार्यवाही शुरू हुई एवं उसे खोजा जाने लगा, वह नहीं मिला। तीन-चार बार उसकी खोज करने पर जब वह नहीं मिला तब विभाग के जरिये श्री कृष्णकान्त जी को यह सूचना दी गई कि या तो आप अभियुक्त को हाजिर करावें या उसकी जमानत की राशि चार हजार रुपये जमा करें। श्री कृष्णकान्त जी ने अनेक प्रकार से जमानती कर्मचारी की खोज की परन्तु वह नहीं मिला। अन्तमें हार मान कर श्री झा ने यह सूचना देदी कि जमानती कर्मचारी को उपस्थित कराने में वे असमर्थ हैं। इनकी इस सूचना के बाद इनके खिलाफ यह निर्णय हो गया कि अमुक तिथिके अन्दर जमानत की राशि जमा यह नहीं करें तो इनकी चल-अचल सम्पत्ति कुर्क करके उपरोक्त जमानत की राशि चार हजार रुपये वसूल कर ली जाय। अपने खिलाफ इस प्रकार के आदेश हो जाने पर श्री कृष्णकांतजी ने अपने स्वाभिमान के रक्षार्थ न्यायालय में मुकद्दमा दाखिल कर दिया जो फेवर में था। मुकद्दमे की कार्यवाही जब आरम्भ हुई एवं न्यायालय में श्री कृष्णकांतजी जज के सामने उपस्थित हुए तो जज ने प्रश्न किया कि इस अभियुक्त

से आपका क्या लगाव था, जिसकी चार हजार रुपये की जमानत देना आपने स्वीकार कर लिया ? श्रीकृष्णकांत ने उत्तर दिया कि मान्यवर ! मेरा उससे कोई लगाव नहीं था और न था। मैंने तो मानवता के नाते एवं उसकी दीन-हीन दशा को देखकर उसकी जमानत दे दी थी। उनके इस उत्तर को सुन कर जज ने कहा कि मानवता भी तो अपनी सब प्रकार की हैसियत को देखकर ही करनी चाहिए। मुझे भी यदि किसी की चार रुपये की जमानत देनी पड़ जाय, तो मैं आर्थिक रूपसे अपने को असमर्थ ही समझता हूँ। चार हजार रुपये एक बड़ी रकम होती है और इसका जमा करना कोई आसान नहीं। आप का पेशा तो नौकरी का ही है ! इतना पैसा क्या आपके पास है ? श्री कृष्णकांतजी ने नकारात्मक उत्तर दिया। उनका उत्तर सुन कर जज ने पहली अपील खारिज कर दी एवं दूसरी अपील की अगली तारीख बताकर यह हिदायत दी कि अगली तारीख पर किसी प्रकार से चार हजार रुपये लेकर ही आना। श्री कृष्णकांतजी ने कहा कि मान्यवर ! मेरे पास पैसा नहीं है और किसी भी प्रकार अगली तारीख तक मैं पैसा एकत्र नहीं कर सकता। जज ने कहा कि अभी कुछ दिन का समय है, अच्छी प्रकार से सोच-समझ लेना। जमानत की रकम तो आपको जमा करना ही पड़ेगा। जमानत की राशि यदि आपने जमा नहीं की तो जेल जाना पड़ेगा एवं नौकरी भी हाथ से चली जावेगी। श्री कृष्णकांतजी ने कहा कि मान्यवर ! ईश्वर जो चाहेगा वही फैसला आप करेंगे। यदि मेरे भाग्य में जेल जाना लिखा होगा तो उसे कोई रोक नहीं सकता और यदि नहीं लिखा है तो कोई जेल भेज भी नहीं सकता। वैसे जमानत की राशि मैं जमा करने की स्थिति में नहीं हूं। इतना कहकर श्रीकृष्णकांत न्यायालय से अपने घर आ गये।

अपने घर पहुंचकर पूरा समाचार जब इन्होंने परिवार के सदस्यों को बतलाया तो सभी लोग चिन्तामें पड़ गये। सङ्कट के समय अशरण-शरण श्रीप्रभुजी के चरण-कमल अन-वरत स्मरण होते रहते हैं। अतः श्रीचरणों में इन्होंने पूरे विवरण के साथ प्रार्थना-पत्र इस आशय से प्रेषित कर दिया कि प्रभो ! हमारे एकमात्र आधार एवं सहायक आप ही हैं ! आपको जो मंजूर होगा, हमें यह पूर्ण विश्वास है। मैं और किसी से किसी प्रकार की कोई सहायता नहीं लूंगा, आपके चरणों के बल पर यह व्रत मैंने पहले ही ले रखा है। आज तक आपने मेरे इस व्रत की रक्षा की है और आगे भी करेंगे, ऐसा हमें विश्वास है। श्रीचरणों में आनेके समय से ही श्रीकृष्णकांत जी झांसी योग-प्रचार मंडल के सक्रिय सदस्य हैं तथा इस मंडलमें होने वाले यौगिक सत्संग में अवश्य ही उपस्थित रहा करते हैं। इस प्रकार का प्रभु-चरणों के प्रति समर्पित भाव श्री प्रभुजी के लाड़ले बच्चों में ही मिलना सम्भव है। यह तो रही श्री प्रभुजी के लाड़ले बच्चे श्रीकृष्णकांत के सम्बन्ध में। अब आगे

का कथानक इस प्रकार घटित हुआ। श्री कृष्णकांतजी अपनी नौकरी एवं सत्सङ्ग का कार्य नियमित रूप से करते रहे एवं वह दिन भी आ गया, जिस दिन उनके मुकद्दमे का फैसला होना था। उस दिन प्रातःकाल उठ कर पूरे परिवार के सदस्यों के साथ श्रीकृष्ण कांतजी ने श्रीप्रभुजी के स्वरूपों की विधिवत् आरती-पूजन एवं नियमित ध्यानाभ्यास किया। फिर अपनी धर्म-पत्नी को यह सलाह दी कि देखो, यदि जज ने मुझे जेल की सजा सुना दी तो मैं लौटकर आज घर नहीं आ सकूंगा। पता नहीं कितने दिन सजा काटनी पड़े। उस समय तुम एक काम करना, किसी से भी न तो कोई सहायता मांगना और न किसी के द्वारा प्रदत्त कोई सहायता स्वीकार करना। आज रात्रि तक हमारा इन्तजार कर लेना एवं कल सवेरे वाली गाड़ी से परिवार के सभी सदस्यों को साथ लेकर सवाई-धाम पहुंच जाना। वहां पहुंचकर स्वयं तथा अपने बच्चों के साथ आश्रम की जो भी सेवा बने करते रहना तथा सभी सदस्य भी श्रीप्रभुजी की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते रहें।

झांसी मंडल के अनेक वरिष्ठ तथा कनिष्ठ गुरु भाई-बहनों ने श्रीकृष्णकांत जी की इस केस में सहायता करनी चाही परन्तु वे किसी से भी जमानत की रकम लेकर कोर्ट में जमा नहीं करना चाहते थे। हमारे आदरणीय गुरु-भाई श्री ईश्वरीप्रसाद श्रीधर जी ने हमारे एक गुरु-भाई को सलाह दी कि मेरे घर से पैसा लेकर आज जमा कर दो। उन्होंने कहा कि कृष्णकांत बड़ा जिद्दी लड़का है। जज कह ही चुका है कि यदि पैसा नहीं जमा हुआ तो जेल चला जावेगा। इस प्रकार इसकी नौकरी भी चली जावेगी। श्री कृष्णकान्तजी ने उस भाई को ऐसा करने से स्पष्ट मना कर दिया एवं स्पष्ट रूप से कह दिया कि मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है और यदि कोई मेरी सहायता करता है वह मेरा भला नहीं करेगा। झांसी मण्डल के हमारे गुरु-भाई श्रीकृष्णकान्त के इस अड़ियल स्वभाव से परेशान थे कि आखिर क्या होने वाला है? श्री कृष्णकान्तजी नियत समय पर न्यायालय पहुंचे एवं उनके साथ चार-पांच गुरु-भाई भी गये। हमारे सभी गुरु-भाइयोंके मन में यह बात पूर्ण-रूपेण बैठ गई थी कि आज वह जेल की सजा का फैसला ही सुनायेगा। जब श्रीकृष्णकान्त के मुकद्दमे की बारी आई तो जज ने कहा कि आज हमारे पास बहुत से केस हैं, जिनका निपटारा करना है और हुकमसिंह की कोर्ट में आज मुकद्दमे नहीं के बराबर हैं। यह केस वहीं स्थानान्तरित कर देते हैं। यह केस स्थानान्तरित होकर जज हुकमसिंह के कोर्ट में पहुंच गया। श्री कृष्णकांत अपने वकील तथा गुरु-भाइयों के साथ दूसरे कोर्टमें पहुंच गये। वकील बेचारा परेशान था कि वह जज साहब तो पूरा केस जान गये थे, यदि सजा भी होनी होती, तो मर्सी अपील करके रुपया जमा करने के वास्ते एक-दो महीने की मोहलत मांग ली जाती।

पता नहीं यह जज साहब क्या करेंगे। इन्हें तो पूरा केस फिर समझाना पड़ेगा। जज हुकुमसिंह ने सर्व प्रथम श्री कृष्णकांतजी के केस की सुनवाई आरम्भ की। उसने प्रश्न किया—क्यों कृष्णकांत ? तुम तो नौकरी पेशे के आदमी हो ! तुमने इतने ज्यादा रुपये की अभियुक्त की जमानत क्यों दे दी ? तुम्हारा उस अभियुक्त से क्या लगाव था ? यदि उससे तुम्हारा कोई लगाव नहीं था तो तुमने जमानत क्यों दे दी ? श्री कृष्णकांतजी ने अपने एकमात्र आधार श्री प्रभुजी को मन ही मन प्रणाम किया एवं बतलाना आरम्भ किया कि मान्यवर ! उस अभियुक्तसे मेरा किसी प्रकार का कोई लगाव नहीं था। जब विभाग के किसी भी कर्मचारी या अधिकारी ने उसकी जमानत लेना स्वीकार नहीं किया तो अभियुक्त मेरे पास आकर मुझसे दया की भीख माँगने लगा। मुझे दया आ गयी एवं मानवता के आधार पर हमने जमानत दे दी। जहाँ तक ज्यादा पैसे की जमानत का प्रश्न है, जमानत देते समय यह बात मेरे मन में कतई नहीं आयी कि अभियुक्त स्थान छोड़कर भाग भी सकता है, यही मुझसे गल्ती हो गयी। मान्यवर ! मुझसे जो गल्ती होनी थी वह तो हो ही गयी, वैसे मैं बिल्कुल निर्दोष हूँ और इतनी रकम मैं किसी भी प्रकार एकत्र नहीं कर सकता ताकि जमा कर सकूँ। जज के सामने इतनी बात समाप्त होते-होते भाई कृष्णकान्तजी की आँखें स्वतः ही बन्द हो गयी एवं श्री गुरुदेव भगवान् का तीव्र वेग से स्मरण होने लगा। कुछ देर बाद जब उनकी भाव भंगिमा भंग हुयी तो उन्होंने देखा कि जज हुकुमसिंह बड़े ही ध्यान से अपलक नेत्रों से उन्हें देख रहे थे। जज साहब ने फैसला सुनाने से पूर्व सरकारी वकील से पूछा कि क्यों वकील साहब हमें जमानत की कितनी राशि माफ करने का अधिकार है। सरकारी वकील ने कहा कि मान्यवर ! केवल दशांश ही माफ करने का अधिकार आपको है। जज के अन्दर श्रीप्रभु-कृपा से पता नहीं किस भाव का उदय हुआ एवं उसने कहा कि कृष्ण कान्त ! मेरा फैसला सुनकर तुम तुरन्त न्यायालय छोड़कर भाग जाना। नहीं तो तेरे हक में ठीक नहीं रहेगा। यह बात सुनकर श्रीकृष्ण कान्तजी एवं उनके साथ कोर्ट गये हमारे और गुरु-भाइयों में और भी आश्चर्य हो रहा था कि पता नहीं जज साहब क्या फैसला सुनायें। जज साहब ने यह फैसला दिया कि कृष्णकान्त मात्र ७५० (सात सौ पचास) रुपये एक माह के अन्दर जमा कर दें। फैसला सुनते ही श्रीकृष्णकांत जी अपने गुरु-भाइयों एवं वकील साहब के साथ बाहर आ गये। न्यायालय से बाहर आकर श्री कृष्णकांतजी ने जब अपने वकील साहब को दो सौ रुपया देना चाहा तो उनके वकील साहब ने कहा कि ये दो सौ रुपया मैं किस बात का ले लूँ। हमसे तो जज ने एक भी शब्द नहीं पूछा और न मैंने स्वयं ही उनसे कोई बात निवेदन की। श्री कृष्णकांत जी द्वारा बार-बार आग्रह करने पर भी उनके वकील ने पैसा नहीं लिया एवं उनसे कहा कि जज के फैसलेसे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। आपके

केस में इस अप्रत्याशित फैसले से मेरी भी प्रतिष्ठा बढ़ी है, यद्यपि मैंने कुछ नहीं किया है; अतः मैं पैसा नहीं लूंगा। इसके बाद श्री कृष्णकांतजी अपने गुरु-भाइयों के साथ न्यायालय से घर आ गये। घर आने पर सभी लोगों ने जज के इस निर्णय पर आश्चर्य एवं प्रसन्नता जाहिर की एवं श्रीकृष्णकांत जी को परामर्श दिया कि अब आप तत्काल सात सौ पचास रुपये जमा करदें और यदि आपके पास पैसा न हो तो हम लोग इस समय जमा कर देते हैं, जब आपके हो जाय तब आप दे दीजियेगा। झाँसी मण्डलके हमारे प्रतिष्ठतम गुरु-भाई श्री ईश्वरीप्रसादजी ने आदेशात्मक परामर्श दिया कि कृष्णकांत अब पैसा तुरन्त जमा कर दो। प्रभुजी की कृपा से जज ने नियम-कानून को ताक पर रखकर यह फैसला दिया है, परन्तु एक-निष्ठ योगी साधक श्री कृष्णकांतजी को अपने आराध्यदेव श्रीप्रभुजी पर पूर्णरूपेण विश्वास था और उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया कि मैं न तो अपना पैसा जमा करूँगा और न किसी गुरु-भाई से पैसा लेकर जमा करूँगा और अपने सभी गुरु-भाइयों से हमारी सानुरोध प्रार्थना है कि कोई भी गुरु-भाई यह पैसा जमा न करे वरन् वह हमारा हितैषी गुरु-भाई नहीं बल्कि दुश्मनी का कार्य करेगा। उनकी इस प्रार्थना के बाद उनके सभी गुरु भाई-बहनों ने इस केस में उनकी सहायता करने का विचार ही मन से निकाल दिया।

श्री कृष्णकांतजी झाँसी मण्डल में होने वाले प्रत्येक प्रभु के यौगिक सत्संगों में नियमित रूप से सम्मिलित होते रहे एवं गुरु भाई-बहनों के द्वारा इस सम्बन्ध में पूछने पर कह दिया करते थे कि यदि मुझे पैसा जमा करना ही पड़ेगा तो श्रीप्रभुजी जानें। वह कैसे जमा होगा, मैं नहीं जानता। मेरे पास पैसा है ही नहीं तथा मैं किसी से पैसा लेकर जमा नहीं करूँगा। उनके इस उत्तर को सुनकर कई गुरु-भाइयों ने कहा कि भाई जी! आप जिद् न करें। श्री प्रभुजी ने तो सहायता कर ही दी है। आप पैसा जमा कर दें वरन् पैसा जमा न करने पर आपको सजा हो जावेगी। श्री कृष्णकांतजी कहते थे कि मैंने यह पक्का विचार बना लिया है कि यदि पैसा जमा करना है तो वे दयासागर इसका प्रबन्ध करेंगे और नहीं तो यदि उन्हें यही स्वीकार है कि मैं जेल चला जाऊँ तो मैं जेल की सजा ही भोगूँगा। समय बीतते देर नहीं लगती एवं जज द्वारा निर्धारित एक महीने की तिथि भी अब समाप्त होने लगी। मात्र दो दिन का समय शेष रह गया था। श्री कृष्णकांत अपने विचार पर हिमालय की तरह अडिग थे एवं झाँसी के प्रत्येक गुरु-भाई सोच एवं चिन्ता में थे कि श्रीकृष्णकांत को जेल जाना ही पड़ेगा। महीने के अट्ठाइसवें दिन, दिन के करीब साढ़े तीन बजे अपने सरकारी कार्य निपटा-कर जब वे श्री प्रभुजी के सत्सङ्ग में जाने के लिए अपना बेग लेकर कार्यालय से बाहर निकल रहे थे तभी उन्हें एक आदमी जो पैंट-शर्ट पहिने था, उनसे बोला—क्यों भाईजी!

आपका नाम श्री कृष्णकांत जी है। उन्होंने कहा कि हाँ, कहिये क्या बात है? उसने कहा कि मुझे आपसे कुछ बात करनी है। बीस-पच्चीस कदम दूर हटने (चलने) पर उसने कहा कि ये साढ़े सात सौ रुपये आप रख लीजिये। मुझे ऐसी सूचना मिली है कि आप को साढ़े सात सौ रुपये की इस समय आवश्यकता है। इन्होंने उस आदमी से कहा कि हम आपके पैसे क्यों ले लें? आप कौन हैं और हमें क्यों पैसे दे रहे हैं? यह बात तो बतलाने का कष्ट करें। उस आदमी ने कहा कि इन सब बातोंसे आपको क्या लेना-देना! आप हमें सिर्फ इतना बतला दें कि आपको सात सौ पचास रुपये की आवश्यकता है कि नहीं। श्री कृष्णकांत ने कहा कि आवश्यकता तो इतनी है कि यदि दो-तीन दिन के अन्दर मैं सात सौ पचास रुपया जमा नहीं करूंगा तो मेरी सजा हो जावेगी तथा मैं जेल चला जाऊंगा, बिना बतलाये मैं आपके पैसे नहीं लूंगा।

श्री कृष्णकांतजी ने आगे कहा कि यदि पैन्ट-शर्ट में आप श्री प्रभुजी हों तो हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम स्वीकार करने का कष्ट करें। उनकी अपने इष्ट के प्रति ऐसी भावना को देखकर उस आदमी ने बतलाया कि भाई जी! मैं प्रभुजी वगैरह कोई नहीं हूं, मुझे ऐसा आदेश मिला है कि मैं आपको सात सौ पचास रुपया दे दूं, इसके बदले में आप से कोई कार्य करा लूंगा। श्री कृष्णकांत ने कहा कि मैं कोई गलत कार्य नहीं करूंगा। उसने कहा कि भाई जी! आप पैसा ले लें, हम आपसे गलत नहीं सही कार्य करायेंगे। उसकी बात सुनकर श्री कृष्णकांत ने कहा कि भाई जी! पैसा तो हम तभी लेंगे जब आप हमें पूरी बात बतला देंगे। अतः आप पूरी बात बतलाने की कृपा करें। उनके इस अनुरोध एवं प्रतिज्ञा को सुनकर उस आदमी ने बतलाया कि भाई जी! मैं पेशे से ठेकेदार हूं। अपने पूरे परिवार के साथ हम मध्य-प्रदेश की राजधानी भोपाल शहरमें रहते हैं, हमारा पूरा परिवार आस्तिक है।

आज जो रात व्यतीत हुई है उस रात को हमने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में हमने देखा कि हमारे कमरे में एक महात्मा प्रकट हुए हैं, जिनका पूरा शरीर आध्यात्मिक तेज से ओत-प्रोत है। उनकी आँखों में इतना तेज था कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। प्रयत्न करने पर भी उसकी तरफ नहीं देख सका। उन्होंने आपका दर्शन हमें कराया, इस कार्यालय का दर्शन कराया और इसका पूरा पता बतलाकर आपका नाम बतलाया और आदेश दिया कि हमारे इस बच्चे को सात सौ पचास रुपये की तत्काल आवश्यकता है, तुम जाकर सात सौ पचास रुपये कल उसे दे आओ, इसके बदले में तुम्हें चालीस हजार रुपये का मुनाफा हो जावेगा। इस प्रकार का अमुक टेण्डर तुम भरो, उसका काम तुम्हें मिल जावेगा एवं रेल्वे के इस कार्य में तुम्हें चालीस हजार रुपये शुद्ध लाभ हो जावेगा। आपको हमारा कार्य सिर्फ इतना करना है

कि जब टेण्डर निकलेगा तो उसे जैसा मैं बतलाऊँगा वैसा सही-सही भर देना। आपको कोई गलत कार्य नहीं करना है। सुबह होने पर जब मैंने यह स्वप्न अपनी धर्मपत्नी को बतलाया तो उसने कहा कि यही स्वप्न अक्षरश: उसने भी देखा है। अत: आज सवेरे पहली गाड़ी से चलकर उस महान् पुरुष की आज्ञा के पालनार्थ पैसा देने मैं आपके पास आया हूँ। इतना कहकर उस आदमी ने पैसा दिया, जिसे श्री कृष्णकांतजी ने स्वीकार कर लिया।

वह व्यक्ति जब इस प्रसंग का वर्णन कर रहा था तो श्रीकृष्णकान्त जी का शरीर बार-बार रोमांचित हो रहा था और उनके नेत्रों से अविरल अश्रुपात होता रहा। प्रसंग की समाप्ति पर श्रीकृष्णकान्त जी ने कहा कि चलिये भाईजी आपको एक कप चाय तो पिला दें। इतना कहते हुए श्रीकृष्णकान्त उस आदमी के साथ कैन्टीन गये एवं चाय पिला-कर उचित अभिवादन के साथ उन्हें विदाकर दिया। उस आदमी को विदा करके श्रीकृष्ण-कान्त जी उस स्थान पर चले गये जहाँ श्रीप्रभु जी का सत्संग होना नियत था। सत्संगी गुरु-भाई बहनों को जब उन्होंने यह प्रसंग सुनाया एवं प्रभु द्वारा प्रेषित सात सौ पचास रुपये दिखलाये तो सभी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ एवं उस दिन रात के सत्संग में सबकी श्रद्धा इस प्रकार की बन गयी थी कि पूरे सत्संग का कार्यक्रम चलता रहा। सुबह होने पर श्रीकृष्णकान्त जी अपने दैनिक कार्य निपटा कर कोर्ट गये एवं सात सौ पचास रुपये जमा कर आये। इस प्रकार श्री प्रभुजी ने अपने बच्चे की प्रतिज्ञा एवं प्रतिष्ठा की रक्षा की। समय आने पर टेण्डर निकला, जिसमें भोपाल के ठेकेदार ने भी भरा था, वैसे न्यूनतम रेट उसका नहीं था परन्तु न्यून-तम वाला ठेकेदार कार्य करने को तैयार नहीं हुआ। अत: कार्य इन्हें मिला एवं चालीस हजार रुपये का शुद्ध लाभ इन्हें हुआ जैसाकि प्रभुजी ने इन्हें आदेशित किया था। इस घटना को आप लोगों के समक्ष रखकर दया-निधान सर्व-समर्थ गुरुदेव से प्रार्थना है कि अपने सभी बालकों को एकनिष्ठ गुरु-भक्ति प्रदान करने की कृपा करें।

योगी साधक को एक निष्ठ होना ही चाहिये क्योंकि किसी कवि की ये पंक्तियां कि:—

जो तू सींचे मूल को, फूले फले अघाय।

इस लोक तथा परलोक के सभी कार्यों के लिये आराध्यदेवजी के चरण कमल रूपी मूल का ही सहारा लेना चाहिये। सन्त शिरोमणि तुलसीदासजी ने भी तो कहा है कि:—

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एकराम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

अत: अपनी तरफ से योगनिष्ठ होकर गुरुदेव के प्रति एक निष्ठ होने का प्रयत्न करते रहना चाहिये ताकि आदरणीय गुरु-भाई श्रीकृष्णकान्तजी की तरह पूर्णरूपेण समर्पण भाव एवं गुरुदेव के प्रति अडिग निष्ठा का भाव बन सके।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

देहो देवालयः प्रोक्तो देही देवो निरंजनः ।
अर्चितः सर्व भावेन स्वानुभूत्या विराजते ॥

अर्थः—देह देवालय है और आत्मा निरंजन देव है, सब भावों से अर्चन किया हुआ वह अपने अनुभव से प्रकाशित होता है।

मौनं स्वाध्ययनं ध्यानं ध्येयं ब्रह्मानुचिंतनम् ।
ज्ञानेनेति तयोः सम्यक् निषेधात्तः प्रदर्शनम् ॥

अर्थः—मौन स्वाध्याय है, ध्येय रूप ब्रह्म का अनुचिंतन करना ध्यान है और ज्ञान से (ध्येय और ध्यान) दोनों का निषेध करने से शेष रहे हुए आत्मा का दर्शन होता है।

अतीतानागतं किंचित् न स्मरामि न चिंतये ।
राग - द्वेषं विना प्राप्तं भुंजाम्यत्र शुभाशुभम् ॥

अर्थः—मैं पीछे की कुछ भी स्मृति नहीं रखता न आगे की चिन्ता करता हूँ, रागद्वेष रहित जो कुछ शुभाशुभ प्राप्त होता है उसी का यहाँ पर भोग करता हूँ।

अभयं सर्व भूतानां ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ।
निजानन्दे स्पृहानान्ये वैराग्यस्यावधिर्मतः ॥

अर्थः—सब भूतों को अभय देना इसी को विद्वान ज्ञान कहते हैं और अपने स्वरूपा-नन्द की इच्छा करते हुए और किसी की इच्छा न करना यही वैराग्य की अवधि है।

वेदान्तैः श्रवणं कुर्यात् मननं चोपपत्तिभिः ।
योगेनाभ्यसनं नित्यं ततो दर्शनमात्मनः ॥

अर्थः—वेदान्त श्रवण करना चाहिए, युक्ति और दृष्टान्तों से उसका मनन करना चाहिए, आत्मा से नित्य युक्त होकर निदिध्यासन करना चाहिए, ऐसा करने से आत्मा का साक्षात्कार होता है।

शब्द शक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
सुषुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते ॥

अर्थः—शब्द में अचिन्त्य शक्ति है जैसे सोये हुए मनुष्य को जाग्रत किया जाता है इसी प्रकार शब्द (सद्गुरुदेव के उपदेश) से अपरोक्ष (आत्म) ज्ञान होता है।

आत्मानात्मविवेकेन ज्ञानं भवति निर्मलम् ।
गुरुणा बोधितः शिष्यः शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥

अर्थः—आत्मा और अनात्मा के विवेक से मुमुक्षु को शुद्ध ज्ञान हो जाता है; शिष्य को गुरु द्वारा उपदेश होने से वैदिक कर्म और उपासना के समस्त फलों से भी अधिक फल की प्राप्ति होती है।

न त्वं देहो नेन्द्रियाणि न प्राणो न मनो न धीः ।
विकारित्वाद्विनाशित्वाद् दृश्यत्वाच्च घटो यथा ॥

अर्थः—देह, इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि यह सब घट के समान विकारी, विनाशी और दृश्यरूप होने से ये तू नहीं है।

अर्थादर्थे यथावृत्तिर्गन्तुं चलति चान्तरे ।
अनाधारा निर्विकारा यादशा सोन्मनी स्मृता ॥

अर्थः—एक अर्थ से दूसरे अर्थ में वृत्ति जाती है तब बीच में निराधार और निर्विकार अवस्था होती है वही उन्मनी कही जाती है।

चित्तं चिच्च विजानीयात् तकार रहितं यदा ।
तकारो विषयाध्यासो जपारागो यथामणौ ॥

अर्थः—जैसे जपा कुसुम का रङ्ग मणि में दीखता है वैसे ही विषय का अभ्यास चित्त में होता है, इस चित्त में से तकार रूप विषयाध्यास को हटाकर चित् को जानो।

ज्ञेय वस्तुपरित्यागात् ज्ञानं तिष्ठति केवलम् ।
त्रिपुटी क्षीणतामेति ब्रह्म निर्वाण मृच्छति ॥

अर्थः—ज्ञेय वस्तु का परित्याग करने से केवल ज्ञान शेष रहता है; त्रिपुटी क्षीण होने से वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

मन्मनो मीनवच्चित्रं क्रीडत्यानन्द वारिधौ ।
सुस्नातस्तेनपूतात्मा सम्यग्विज्ञान वारिणा ॥

अर्थः—मेरा मन आनन्द के समुद्र में मछली के समान क्रीड़ा करता है इस सम्यक विज्ञान रूप जल में भली प्रकार स्नान करने से वह शुद्ध हो जाता है।

सर्वत्र प्राणिनां देहे जपो भवति सर्वदा ।
हंसः सोहमिति ज्ञात्वा सर्व बंधात्प्रमुच्यते ॥

अर्थः—सब प्राणियों के देह में 'हंसः सोहं' जप हमेशा हुआ करता है 'वह हंस मैं हूँ' ऐसा जानने वाला सब पापों से मुक्त हो जाता है। 卐

पवित्र-कर्म और उनका प्रतिफल

॥ श्री कर्मनारायण कपूर

१—सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि पवित्र-कर्म पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान से मुक्ति होती है। अतः यह सिद्ध है कि पवित्र-कर्म ही आत्मोन्नति तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

२—कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ करना है। जो किया जाय वह ही कर्म होता है। गीता कर्म अकर्म और विकर्म में भेद करती है। कर्म का तात्पर्य कर्तव्य कर्म अकर्म का कर्तव्यकर्म का न करना और विकर्म का अर्थ है उलटा कर्म करना। कोई मनुष्य कुछ न कुछ कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता।

३—कर्म के दो भेद है—व्यक्तिगत कर्म तथा अव्यक्तिगत कर्म; अर्थात् जिनका अन्य प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिगत कर्मों के पुनः चार भेद होते है, वे है—

(क) खाना, पीना, सोना, खेलना आदि। इन कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहता है।

(ख) सत्य बोलना तथा मन से सब का भला सोचना। इनसे मन शुद्ध होता है।

(ग) विद्या (ज्ञान) प्राप्त करना तथा तप करना। इनसे आत्मा की शुद्धि होती है।

(घ) ईश-उपासना। इससे आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है, मनु महाराज ने कर्म के तीन भेद किये है—कायिक, मानसिक तथा वाचिक।

प्राणी शरीर से, मन से तथा वाणी से किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को शरीर, मन तथा वाणी द्वारा ही भोगता है। जिस कर्म को करने से मनुष्य को लज्जा नहीं आती और जिसके करने से आत्मा प्रसन्न होती है, वह कर्म सात्विक समझना चाहिए।

४—कर्म और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म का धात्वर्थ है 'जो धारण करे।' केवल कर्म ही मानव को धारण कर सकता है न कि कोरा विश्वास। कोरा विश्वास धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आ सकता है। इसीलिए मनु महाराज ने कहा है—

आचारः परमो धर्मः

संस्कृत साहित्य में 'धर्म' शब्द अनेकों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यथा—स्वधर्म, परधर्म जातिधर्म तथा कुलधर्म, राजधर्म, संन्यासियों के विशेष धर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, स्त्रीधर्म आचार्य और शिष्य का धर्म।

मनु और व्यासजी कहते है कि "युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्तव्य कर्म तथा धर्म पर्यायवाची शब्द है। इसकी पुष्टि गीतासे होती है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं—"इसके सिवा स्वधर्म की ओर देखें तो भी इस समय तुम्हें हिम्मत हारनी उचित नहीं है।"

क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना तथा राज्य-व्यवस्था करना होता है। यह दोनों कर्म

(कर्त्तव्य) ही है। अपरंच मनु का वचन है कि "धर्म ही एक सहृदय है जो मृत्यु के उपरान्त भी साथ जाता है।" इस तथ्य का प्रमाण है कि धर्म शुभाशुभ कर्म का द्योतक है।

५—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारक तथा परोपकारक कर्म ही शुभ कर्म होते हैं, इनकी गणना नहीं की जा सकती और न ही इन शुभ कर्मोंकी सीमा निर्धारित की जा सकती है। तथापि पाठकों की जान-कारी हेतु कुछ शुभ (पवित्र) कर्मों की सूची दी जाती है।

(क) सत्य बोलना—"न हि सत्यात्परो धर्मः—अर्थात् सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। "सत्यमेव जयते नानृतं।" "धर्मः सत्येन वर्द्धते।" यह महावाक्य है जो सदैव ध्यान में रखने योग्य है।

किसी घटना, कर्म, स्थिति तथा वस्तु का ठीक-ठीक वर्णन करना ही सत्य कहलाता है। सत्य से ही राष्ट्र, समाज तथा न्याय की रक्षा हो सकती है। इसके बिना राष्ट्र, समाज तथा न्याय उथल-पुथल हो जाता है और अचिन्त्य विप्लव अनिवार्य हो जाता है इसलिए ऋग्वेद की सूक्ति है—"सत्येनोत्तभिता भूमिः" अर्थात् सत्य से ही भूमि का धारण होता है। यहाँ भूमि का अर्थ भूमि-निवासी मनुष्यों का है। हिन्दी कवि का कथन है—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥

यह तो निर्विवाद है कि सत्य बोलने से कभी-कभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अपने व्यवसाय में हानि हो सकती है, मित्र और बन्धु रुष्ट हो जाते हैं और शत्रु बन जाते हैं, पर स्मरण रहे कि धर्माचरण कोई सरल बात नहीं। धर्म पर आचरण करना वैसा ही कठिन है जैसा कि छुरा की धार पर चलना।

सत्य बोलने के नियम का एक अपवाद है, निरपराधी व्यक्ति की जान बचाने के लिए असत्य बोलना पाप नहीं है।

नारद का कथन है—"सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही हमारे मत से सत्य है।"

(ख) सत्याचरण अथवा सत्यशीलता।

सत्य बोलने का अवसर मनुष्य को कभी-कभी मिलता है, किन्तु जीवन के प्रत्येक स्तर पर हर व्यक्ति को सत्याचरण के और सत्य-शीलता प्रगट करने के अवसर पग-पग पर मिलते रहते हैं। चाहे वह दुकानदार हो, डाक्टर हो, वकील हो, अधिकारी हो अथवा साधारण कार्यकर्त्ता हो।

शुद्ध वस्तुओं का बेचना, उचित दर लेना और ठीक तोलना गलती से प्राप्त अधिक धन व वस्तु का वापिस करना; रोगी को ठीक-ठीक जाँच कर दवाई देना; मुवक्किल का ईमानदारी से काम करना; दिये हुए वचन का पालन करना; दुखियों की सेवा करना; मधुर वचन बोलना; नम्र रहना प्राणिमात्र

से प्रेम और सद्व्यवहार करना; अपकार करने वाले का उपकार करना; क्षमा करना; अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करना; रेलगाड़ीमें अपना अधिक सामान बुक कराना, चुंगीकर स्वयं देना, आय कर पूरा कर देना; सर्वहितकारी नियमों का पालन करना; घूस (रिश्वत) को ठुकराना; भय, प्रलोभन, आफीसर की स्पष्ट तथा सांकेतिक अनुचित आज्ञा की उपेक्षा करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करना; जल निमग्न व्यक्ति को बचाना; इत्यादि कर्म कर्ता के सत्याचरण तथा सत्यशीलता के मुँह बोलते उदाहरण हैं।

(ग) माता-पिता, गुरु, वृद्धजनोंकी आज्ञाओं का पालन करना तथा उनकी धन-धान्य, वस्त्र, औषधियों आदि द्वारा सेवा करनी चाहिए। यह प्रत्येक व्यक्ति का सबसे बड़ा कर्तव्य है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव।

अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देव समझना चाहिए।

किसी व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द से प्रश्न किया था कि वह इतने योगी हैं और पूर्ण ब्रह्मचारी हैं तो किस कारण आपको अपने कार्यमें इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी कि होनी चाहिए थी। स्वामीजी ने उत्तर दिया, इसका एकमात्र कारण यह है कि मुझे माता-पिता का आशीर्वाद प्राप्त न हो सका।

(घ) यज्ञ करना, दान देना और तप करना। यजुर्वेद में यज्ञ की महिमा का वर्णन किया है। यज्ञ से आयु, प्राण, अपान, व्यान, मन, वाणी, चक्षु, श्रुति, आत्मा आदि की सुव्यवस्था का वर्णन मिलता है।

रामायणकाल में यज्ञों का विस्तार था। ऋषियों के आश्रमों में यज्ञ होते रहते थे। ऋषि विश्वामित्र अपने यज्ञ की (राक्षसों से) रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को ले गये थे। महाभारत काल में युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ तो प्रसिद्ध ही है। उत्तर महाभारत काल में यज्ञों का प्रायः लोप हो गया, उपनिषद् काल में ऋषि वनों में रह कर ब्रह्मचर्चा किया करते थे। उपनिषदों में यज्ञों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में दान की महिमा इस प्रकार की गई है—

श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना। अपनी बढ़ती में श्री से देना; श्री न बढ़ रही हो तो भी लोक-लाज से देना। भय से देना, प्रेम से देना।

गीता में कहा है कि यज्ञ-दान और तप इन कर्मों को करना ही चाहिये। ये बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं। इन कर्मों को बिना आसक्ति के, फलाशय को त्यागकर करना चाहिये।

जो यज्ञ फलाशा को छोड़कर अपना कर्तव्य समझ करके, शास्त्र की विधि के अनुसार शान्त-चित्त से किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है।

वह दान सात्त्विक कहलाता है जो कर्तव्य

बुद्धि से किया जाता है, जो योग्य स्थल काल और पात्र का विचार करके किया जाता है। एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है।

देवता, ब्राह्मण गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर का तप कहते हैं। मन को उद्विग्न करने वाला सत्य, प्रिय और हितकर सम्भाषण को तथा स्वाध्याय को वाचिक तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इन को मानस तप कहते हैं। इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा न रखकर श्रद्धा से योगयुक्त बुद्धि से करे तो वे सात्त्विक कहलाते हैं वास्तव में सर्दी-गर्मी और कष्ट का सहन करना ही शरीर का तप है।

आज के युग में न यज्ञ रहा है और न तप रहा है। आर्य समाज ने अग्निहोत्र का प्रचार अवश्य किया है किन्तु वह भी शून्य के बराबर है। अग्निहोत्र से जलवायु अन्न आदि की शुद्धि तो होती है किन्तु आधुनिक समय में पैट्रोल, गैस, धुंआ, धूलि आदि के कारण वायु इतनी दूषित हो गई है कि थोड़े से रविवासरीय अग्निहोत्र इसका प्रतिकार नहीं कर सकते। भारत एक निर्धन देश है। अतः वायुशुद्धि का कार्य व्यक्तिगत रूप से होना असम्भव है। यह बहुत कार्य तो सरकार ही कर सकती है।

जहाँ तक तप का प्रश्न है वह असम्भव सा हो गया है। साइन्स ने मनुष्य के लिये इतनी भोग-ऐश्वर्य-विलासिता की सामग्री प्रदान करदी है कि इस वातावरण तथा स्थिति में शारीरिक, मानसिक तथा वाणी के तप का सवाल ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सत्य है कि इस युग में दान की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। धन अधिक संख्या में मनुष्य को प्राप्त हो रहा है। यह दूषित धन-दान संस्थाओं को दूषित करके मनुष्य को अधोगति की ओर ले जा रहा है। न सात्त्विक धन रहा है और न सात्त्विक दान; न सात्त्विक दानी रहे और न ही सात्त्विक पात्र रहे हैं।

(ङ) दया—दया तो एक ईश्वरीय गुण है। भगवान् कर्मानुसार न्याय तो करते हैं पर साथ ही दया भी करते हैं। वह पाप कर्मों को क्षमा तो नहीं करते पर उनकी दया की दृष्टि सब प्राणियों पर सदा रहती है। अंग्रेजी की कहावत है। God's justice is tempered with Mercy—ईश्वर का न्याय दया से द्रवीभूत होता है।

प्रत्येक प्राणी को दीन-दुखियों पर दया करनी चाहिये और उनकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये।

कवि कहता है—

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये जब तक घट में प्रान॥

(च) क्षमा—जब किसी व्यक्ति को दूसरे से क्लेश मिलता है तो उसके मन की शान्ति भंग हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह यदि उपकार करने वाले को क्षमा कर देवे तो उसका मन शान्त हो जायेगा। इसके प्रतिकूल

वह उपकार करने वाले के मन में पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न कर उसके सुधार का भागी बन जावेगा।

क्षमा करना तो संन्यासियों का भूषण है और न्यायाधीश का अवगुण है।

(ख) अब पाप (अशुभ) कर्मों का संक्षिप्त वर्णन उचित होगा। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—

(१) हिंसा (२) चोरी करना (३) लालच करना (४) घूस रिश्वत लेना (५) द्वेष करना (६) जुआ खेलना (७) पर स्त्री-पुरुष गमन (८) क्रोध करना (९) कठोर शब्द और झूठ बोलना (१०) दूसरे का बुरा चाहना (११) कर्तव्य कर्म न करना (१२) माता-पिता तथा वृद्धजनों का तिरस्कार करना (१३) वचन का पालन न करना (१४) राजकीय और सामाजिक नियमों का उल्लंघन करना (१५) विश्वासघात करना (१६) मित्रद्रोह करना (१७) खाद्य तथा अन्य वस्तुओं में मिलावट करना (१८) काला धन कमाना (१९) धोखा देना (२०) झूठे प्रमाणपत्र देना (२१) झूठे बिलों द्वारा धन प्राप्त करना (२२) व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करना (२३) दूसरे का अपमान करना (२४) धरोहर (सौंपे हुए धन) का वापस न करना (२५) अपशब्द बोलना (२६) उद्दण्डता (२७) दूसरों के धन व सम्पत्ति पर अधिकार करने की चेष्टा करना।

७—यह स्मरण रहे कि शिशु बालक और पागल व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करने में अशक्त होते हैं, क्योंकि उनको सत्य-असत्य पाप-पुण्य का भेद ज्ञात नहीं होता है। न्याय में अदण्डनीय होते हैं।

८—अन्त में भारतीय सन्तों तथा ईसाई पादरियों के ईश्वरीय विशेष अनुग्रह तथा God's grace (ईश्वरीय अनुकम्पा) का विवेचन करना है।

यह तो सत्य है कि शुभाशुभ कर्मों का फल तो अवश्यमेव भोगना होता है। उसमें किंचित् मात्र भी न्यूनाधिकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपने शुभाचरण अथवा भक्ति के कारण ईश्वर की दया तथा अनुकम्पा का पात्र बन सकता है। इस सिद्धान्त पर कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। कर्मफल तथा ईश्वरीय विशेष अनुग्रह में कोई विरोध नहीं है क्योंकि ईश्वरीय अनुग्रह भी तो प्राणी के कर्म (भक्ति अथवा अन्य कर्म) के फलस्वरूप होता है? न कि अकारण।

गीता में स्पष्ट लिखा है कि परमेश्वर किसी का पाप और किसी का पुण्य नहीं लेता है।

मुण्डक उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, न ही तर्क-वितर्क से और न ही बहुत सुनने से। जिसको वह वरण कर लेता है वह ही उसे प्राप्त कर सकता है; उसके सामने परमात्मा अपने स्वरूप का विवरण करता है।

संसार में यह देखा जाता है कि किसी वस्तु या व्यक्ति का वरण उसके गुणों के आधार पर होता है। यह असम्भव व तर्कविहीन है कि सर्व न्यायकारी परमेश्वर पात्र की योग्यता के बिना ही उसका वरण करता है। अतः यह निष्कर्ष सत्य है कि परमात्मा का विशेष अनुग्रह व्यक्ति के विशेष शुभ कर्मों पर ही आधारित होता है।

भव रोग वैद्यं

डा० श्री विजयसिंह

आनन्दकन्द श्री सद्गुरु भगवान् की अहेतुकी कृपा के संचार से साधारण जीव के अन्दर एक अकथनीय, अवर्णनीय क्रांति बीज का वपन अकस्मात् हो जाया करता है। व्यक्ति अपने अन्तस में एक विचित्र भाव-राज्य तथा विलक्षण विज्ञान बोध को अनुभव करने लगता है। हमने अपने साथियों के अन्दर किसी को दीक्षा के उपरान्त प्राण के अद्भुत व्यापार घटित होते हुये देखे, तो किसी में नाद, ज्योति अथवा आनन्द व प्रेम का प्राकट्य होते देखे। ऐसे लोगों की निजानुभूति इतनी विलक्षण और विस्तृत सत्य है कि उनका समुचित वर्णन करना मात्र मनुष्य के लिए ही नहीं, अपितु देव दुर्लभ शक्ति मण्डित जन के द्वारा भी अशक्य है। यहाँ मैं भाषा अलंकार अथवा अतिशयोक्ति की बात नहीं कर रहा हूँ। विगत वर्षों में अपने प्रिय गुरु भाईयों एवं गुरु-बहनों में से जिन कुछ लोगों ने अपने दीक्षा विषय को तथा उपरान्त उद्भासित अनुभवों को यथा तथा बताया है, केवल उसका ही वर्णन एक वृहत् ग्रन्थ की संरचना के लिए पर्याप्त होगा। फिर देश-विदेशों में सद्गुरु की कृपा शक्ति जो प्रक्षेपित होकर आज लक्ष-लक्ष लोगों में व्याप्त हो चुकी है, उन सबको समवेत भाव से तो प्रभु-स्वरूप वेदव्यास जैसी मेधा, स्मृति-सम्पन्न महापुरुष ही देख-सुन और गुन सकते है। यहाँ इस लेख अथवा लेखमाला में उन श्रीमान्-धीमान् गुरुनिष्ठ गुरु-भाइयों के अनुभव वर्णित करना चाहता हूँ जो अहर्निश प्रभु-कृपा शक्ति का संचार अपने अन्दर करते हैं तथा सद्गुरु की प्यारी चिदात्मिका शक्ति कैसे उनके अधिभूत अधिदैव व अध्यात्मिक दुःखों को विनष्ट समय-समय पर करती रहती है।

बात शुरू करता हूँ, अपने गुरु-भाई ब्रज-मोहन शर्मा जी से। जिनका व्यवसाय है अध्यापन, जो गृहस्थ नहीं है। ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये हुए समाज सेवा में से जुटे हुये हैं। आनंदकन्द श्री प्रभुजी के श्री चरणों में आने से पूर्व से ही अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रतीक भगवान महावीर जी के प्रति इनकी अगाध निष्ठा थी। उन्होंने हमें एक बार बताया था कि श्री प्रभुजी की कृपा-कटाक्ष मुझे महावीर जी की प्रेरणा से ही प्राप्त हुई है। दीक्षा के उपरान्त साधना क्रम के विकसित होने पर उन्हें अनेक बार महावीर जी के दर्शन हुये हैं। हमने पूछा था कि क्या आपने स्थूल रूप में भी श्री महावीर जी के दर्शन प्राप्त किये हैं? उनका उत्तर स्वीकारात्मक था। कैसे और किस प्रकार अनुभव दर्शन और साक्षात् दर्शन हुआ यह गोप्य रखना ही समीचीन प्रतीत होता है। बराबर आनन्द-कन्द श्री प्रभुजी एवं महाप्रभुजी की विलक्षण कृपायें भाई को अनुभव होती है। इस बार ऋषिकेश गङ्गादशहरा पर्व पर उन्होंने गुरुदेव भगवान द्वारा विगत दिनों की गयी उन पर अहेतुकी कृपा का एक अत्यन्त मार्मिक कथा हमें बतायी।

लगभग आज से एक वर्ष पूर्व नैसिक

शिक्षा अधिकारी के कार्यालय में स्कूल संबंधी कागजात का भाई जी निरीक्षण करवाने गये हुये थे। कोई विशेष फाइल लेने सीढ़ियों से उतरकर नीचे आये और शीघ्रता से जब वे ऊपर चढ़ रहे थे उस समय अचानक दाईं पसली और नाभि के बीच कठिन पीड़ा का अनुभव उन्होंने किया। उन्होंने सोचा झटका लगने से ऐसा हो गया है, ठीक हो जायेगा। परन्तु कार्यालय से मुक्त होकर जब वे घर पहुंचे तब तक पीड़ा बढ़कर असहनीय हो गयी थी। बिस्तर पर पड़े-पड़े दर्द को कड़े दिल से सहन करना चाहा परन्तु असह्य वेदना प्राणों का उर्ध्वाकर्षण करती प्रतीत होने लगी। भाई बृजमोहन जी के कनिष्ठ भ्राता डाक्टर है। लोगों ने उन्हे सूचित किया। वे घबराये भागे घर आये। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर दर्द निवारक औषधियां दीं तथा गर्म जल से सेक-ताक भी करवाई। परन्तु फायदा की जगह 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता गया' की ही कहावत चरितार्थ होती रही। रात्रि में सहारनपुर सरकारी चिकित्सालय में भरती करवाये गये। डाक्टरों ने दर्द निवारण के हेतु तमाम औषधि एवं इंजेक्शन दिये, परन्तु फायदा तात्कालिक दृष्टिगोचर भी नहीं हुआ। डाक्टरों की समझ में कुछ नहीं आया। उन्होंने इन्हें चण्डीगढ़ मेडिकल इन्स्टीच्यूट में भरती जल्द से जल्द करवाने की सलाह दी। रोग की गम्भीरता को देखते हुये उनके सुहृदगण उन्हें चण्डीगढ़ लिवा ले गये। इधर पीड़ा में छटपटाते भाई को अपना अन्त समय आया जान पड़ता था। वे मन ही मन अपने परमाराध्य श्री प्रभुजी को स्मरण करने लगे तथा भाई द्वारा श्री प्रभुजी के पास पत्र भिजवाया।

इधर गुरुभाइयों (चण्डीगढ़) के सहयोग से चण्डीगढ़ के डाक्टरों ने इनके शरीर की तमाम यांत्रिक तथा रसायनिक जांच करवायीं और निष्कर्ष निकाला कि यकृत में स्रोत (पथरी) है। जिसे तत्काल आपरेशन से निकालना ही ठीक होगा। आपरेशन की तिथि १२ अगस्त निश्चित हो गयी।

उधर परमकरुणार्णव अचिन्त्य शक्तिमान श्री प्रभु चरणों में भाई जी का पत्र पहुंचा। पत्र द्वारा ब्र० बृजमोहन की असह्य पीड़ा तथा चण्डीगढ़ में भर्ती तथा आपरेशन आदि की बात जानकर (अन्तर्यामी प्रभु से छिपा क्या है?) श्री प्रभुजी ने आश्रम के ब्र० भाई पूर्णचन्द्र जी को बुलाकर उनको आदेश दिया कि तुम चण्डीगढ़ हमारा पत्र लेकर जाओ और लल्ला बृजमोहन वहां भरती है, उसे देख आओ। उससे कहना कि आपरेशन करवाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह पुष्प-प्रसाद उसे देना, अब उसकी पीड़ा भी कम हो चुकी होगी।

इधर उन परमात्मा प्रभु के संकल्प होते ही भाई जी को पीड़ा में कमी महसूस हुई। जब भाई पूर्णचन्द्र जी पहुंचे तब तक पीड़ा में काफी कमी हो चुकी थी। ब्रह्मचारी श्री पूर्णचन्द्र जी ने कहा कि यद्यपि श्री प्रभुजी

का आदेश है कि अब आपरेशन करवाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है परन्तु जब डाक्टर कहते हैं कि पथरी है तो उसे निकालना ही श्रेयस्कर होगा। और तुम्हारे आपरेशन का दिन भी निश्चित हो चुका है अतः बिना आपरेशन के डाक्टर तुम्हें डिसचार्ज भी तो नहीं करेंगे। हम लोग परिस्थिति वश श्री प्रभुजी की कृपाओं की अनदेखी अपने बुद्धिबल से कर जाते हैं। माया अपना कार्य बखूबी अज्ञान का परदा डालकर करती रहती है। अतः भाई वृजमोहन जी का भी मन आपरेशन करवा लेने का बन गया तथा वे डिस्चार्ज भी तो अपने मन से नहीं हो सकते थे।

उन्होंने बताया कि श्री प्रभुजी का संकल्प कैसे आगे अपना कार्य करता गया। १२ अगस्त को आपरेशन का चोगा पहनाकर स्ट्रेचर-ट्राली पर लिटाकर आपरेशन थियेटर की ओर भाई वृजमोहन जी को लिवा ले जाया गया। थियेटर रूम में कोई बड़ा आपरेशन चल रहा था। अतः इनको स्ट्रेचर पर लेटे-लेटे इन्तजार करते एक घण्टा व्यतीत हो गया। तभी अन्दर से एक डाक्टर निकलकर आया और कहा बड़े डाक्टर को एक अन्य केस देखने बाहर जाना है अतः अब और कोई आपरेशन वे आज नहीं करेंगे। भाई वृजमोहन जी को अन्दर-अन्दर श्री प्रभुजी की अकथनीय कृपा का बोध हो रहा था। वे यह सुनकर अति प्रसन्न हुये। डाक्टर ने बताया अगले दिन इतवार है तथा १५ अगस्त है अतः अब १६ अगस्त को ही अन्य आपरेशन होंगे।

इधर भाई वृजमोहन जी को श्री प्रभुजी का पत्र पुनः मिला 'तुम चण्डीगढ़ से आश्रम आ जाओ हम तुम्हें ठीक कर देंगे।' भाई वृजमोहनजी ने पुनः चण्डीगढ़ के अपने सुपरिचित गुरु-भाइयों की मदद् से डाक्टरों पर दबाव डलवाकर पुनः परीक्षण करवाया। आश्चर्य! इस बार एक्स रे आदि का रिपोर्ट भिन्न थी। उन्हीं डाक्टरों ने जिन्होंने पहले परीक्षण के आधार पर गालब्लेडर में स्टोन होना बताया था वे अब आश्चर्य भाव में कहने लगे। इस एक्स-रे में तो वे स्टोन है ही नहीं! अतः अन्ततोगत्वा भाई वृजमोहन जी को अस्पताल से छुट्टी मिल ही गयी।

वे श्री प्रभुजी की इस अलौकिक कृपा से रोमांचित थे। वे अश्रुपूरित नेत्रों से मानस पटल पर उनके अमोघ श्रीचरणों को अङ्कित कर पुलकित होते हुये शीघ्र ही सवाई धाम पहुंचे। लीला निकेतन श्री प्रभुजी भाई जी को देखते ही बोले—आ गये। अब हम तुम्हारे स्टोन को ठीक कर देंगे। कल से सुबह साढ़े तीन बजे व्यायाम कक्षा में नियमित तुम भी शामिल रहना। इन दिनों आश्रम में श्री प्रभुजी सभी को तीन बजे उठाकर शौच आदि से निवृत्त हो जाने पर आसन व्यायाम लगवाते हैं तथा चार बजकर तीस मिनट पर आरती समाप्त कर गीता-पाठ तथा पुनः स्वयं अपने संरक्षण में सभी को दो घण्टे ध्यान में बिठाते हैं। जीवों पर करुणा करने वाले परमकृपालु प्रभुजी के इन

दिनों की चर्चा करते हुये आश्रम में निवास करने वाले एक व्यक्ति ने बताया कि श्रीप्रभुजी तीन बजे अपनी छड़ी लेकर आश्रम के प्रत्येक कमरे में स्वयं जा-जाकर लोगों को जगाते रहे हैं। ऐसे जीवों के उद्धारक परम करुणा-शील प्रभु कहाँ देखे हैं।

तो भाई बृजमोहन जी भी नित्य प्रातः-कालीन व्यायाममें सम्मिलित हो गये। उनकी पीड़ा समाप्त हो गयी थी परन्तु दाईं ओर पीड़ा वाले स्थल के अन्दर अब भी एक हल्की चुभन बनी रहा करती थी। महीनों व्यायाम करते व्यतीत हो गये। स्वास्थ्य ठीक था परन्तु वह चुभन समाप्त ही नहीं हो रही थी। परम कौतुक प्रिय श्री प्रभुजी ने एक दिन भाई बृजमोहन से पूछा—तुम्हारा अब दर्द कैसा है ? भाई जी ने कहा—प्रभुजी ! दर्द तो नहीं है परन्तु (गंजी को ऊपर उठाते हुये पेट के उस भाग को श्री प्रभुजी को दिखाते हुये) बोले हर समय यहाँ एक चुभन बनी रहा करती है। विनोद करते हुये परमगुरु भगवान ने कहा—जरा हमारे पास तो आओ और नजदीक आकर बताओ कहाँ चुभन है। भाई बृजमोहनजी ने श्री प्रभुजीके पास आकर दाँयी ओर उस स्थान को दिखाया। अचानक श्री प्रभुजी अपनी अंगुलियों से उनके पेट में गुलगुली करते हुये हँसते हुये बोले अरे यहाँ कहाँ चुभन है। और भाई जी को थोड़ी देर गुलगुलाकर हँसाते रहे। फिर गम्भीर होकर श्री प्रभुजी बोले—अब ठीक हो जायेगा।

भाई श्री बृजमोहनजी ने बताया, आश्चर्य वह चुभन श्री प्रभुजी के स्पर्श मात्र से ही जाती रही। फिर तब से वैसा कुछ भी नहीं हुआ। परमपिता श्री सद्गुरु की ऐसी अहैतुकी कृपा को हमने अपने तमाम मित्रों के जीवन में घटित होते स्वयं देखा है। अद्भुत है श्री प्रभुजी का अपने बालकों के संस्कारों का नुकसान करवाना।

श्री प्रभुजी कहते हैं तुम गुरु मन्त्र का जाप करो तुम्हारे ऊपर पहाड़ गिरना होगा तो रुई के बादल बनकर गिरेंगे। सद्गुरु प्रतिकूल तीर संधान किये तैयार रहा करते हैं जब ही कोई कड़ा क्लेश संस्कार शिष्य का उदय होता है वे अचूक निशाना ले तीर संधान करते हैं। उन संस्कारों का छेदन-भेदन तत्काल हो जाया करता है।

ज्ञान की वृद्धि का उपाय

मनुष्य के अन्दर जो कुछ भी थोड़ा-बहुत आध्यात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरण में उतारना ही ज्ञान की वृद्धि का उपाय है। ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा जो कुछ उपदेश मानव जाति को समय-समय पर होते रहे और साधक को जन्म से ही जो विवेक बुद्धि प्राप्त रहती है, उसमें उसे इसके आगे क्या करना है, इस विषय में यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ उसे प्राप्त है, उसको अमल में लाना कठिन है।

—श्री प्रभु जी

परम-भक्त नामदेव के—

कुछ आध्यात्मिक प्रसंग

श्री के० डी० उपाध्याय

भगवान् ने उस महात्मा भक्त को बहुत ही दुर्लभ बतलाया है जो सर्वत्र सबमें भगवान् को ही देखता है। वास्तव में वही मनुष्य धन्य है जो सर्वत्र भगवत्-दर्शन का अभ्यासी है। श्री नामदेवजी में सर्वत्र भगवत्-दर्शन की बात कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे जहाँ कहीं रहते, जिस किसी भी वस्तु को देखते, उन्हें उस वस्तु में भगवान् ही दिखलाई देते थे। इस बात को पुष्ट करने वाली उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ आध्यात्मिक घटनाओं का वर्णन लिखने का प्रयास किया जा रहा है। 'श्री सिद्धयोग' के सुयोग्य पाठकों से सानुरोध निवेदन है कि लेख की त्रुटियों को क्षमा करने की कृपा की जाय।

एक समय की बात है कि भक्त श्री नामदेव जी की कुटिया में आग लग गई। आग कुटिया में केवल एक ही तरफ लगी थी। श्री नामदेव जी को आग की लपटों में ही भगवान् का दर्शन हो रहा था। अतः वे अपने स्थान से उठे एवं भगवत् प्रेम की मस्ती में दूसरी तरफ कुटिया में रखी हुई वस्तुओं को उठा-उठाकर आग की धधकती लपटों में फेंकने लगे। वस्तुओं को आग में फेंकते समय वे कह रहे थे कि प्रभो! आप भी खूब आये, आज तो आप लाल-लाल लपटों के रूप में आये। परन्तु आप एक ही ओर क्यों आये प्रभो? दूसरी तरफ की वस्तुओं ने क्या अपराध किया है कि आप इन्हें ग्रहण नहीं कर रहे हैं। प्रभो! आप इन्हें भी स्वीकार कीजिये। इतना कहते हुए वे भजन करते तथा सामान को आग में डाल रहे थे। सारा का सारा सामान जलकर राख हो गया। नामदेव जी बिना कुटिया के हो गये। वर्षा काल था, रहें तो कहाँ रहें। कहते हैं उसी रात भगवान् ने आकर स्वयं उनके लिए एक छान छाकर कुटिया बना दी। तब से भक्त नामदेवजी भगवान् की बनाई हुई कुटिया में निवास करने लगे। इस घटना के बाद लोग उन्हें छान वाले बाबाजी के नाम से भी सम्बोधित करते थे।

दूसरी घटना का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि एक समय तीर्थ-यात्रा में किसी जंगल में एक पेड़ के नीचे भक्त नामदेव जी रोटी बना रहे थे। रोटियाँ बनाकर आपने रख दी एवं स्वयं लघु-शङ्का करने चले गये। इतने में एक कुत्ता आया और रोटियाँ मुँह में उठा कर भाग चला। इतने में लघु-शङ्का करके नामदेवजी आ गये। सबमें भगवान् का दर्शन करने वाले भक्त श्रेष्ठ श्री नामदेव जी भी घी की कटोरी हाथ में लेकर यह पुकारते हुए कुत्ते के पीछे दौड़ने लगे कि प्रभो! रोटियाँ रूखी हैं, अभी चुपड़ी नहीं है, मुझे घी लगा लेने दीजिये, उसके बाद भोग लगाइयेगा। भगवान् ने उनकी प्रार्थना सुन ली तथा वह रोटी लेकर भाग रहा कुत्ता शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए भगवान् के चतुर्भुज रूप में बदल गया। भक्त नामदेवजी ने भगवान् के इस रूप को साष्टांग किया।

भक्त नामदेवजी की एक किंवदन्ती, जो

उनकी एकनिष्ठ भक्ति से सम्बन्धित है इस प्रकार से है कि—एक समय श्री नामदेव जी तीर्थ-यात्रा के समय किसी गाँव में रात्रि-निवास की नीयत से पहुंच गये। वहाँ एक घर देखा, जिसमें कोई नहीं रहता था। अतः रात्रि-निवास के लिए आप उसी घर में प्रवेश कर गये। उस मकान में कोई ब्रह्म-राक्षस रहता था। गाँव के लोगों ने निवेदन किया कि महाराज ! आप हम लोगों के घर चलिये इस मकान में रात्रि-निवास मत करिये, इसमें भूत रहता है। वह भूत आधी रात को सामने प्रकट होता है तथा इस मकान में रात्रि-निवास करने वाले को जान से मार डालता है। परन्तु श्री नामदेवजी नहीं माने। उन्होंने गाँव के लोगों से कहा कि आप लोग चिन्ता न करें, कोई अशुभ समाचार आप लोगों को कल नहीं मिलेगा। सबमें भगवान् विट्ठल का दर्शन करने वाले श्री नामदेवजी के मन में भाव आया कि भूत भी तो मेरे विट्ठल ही बने होंगे। उन्होंने निर्भयता से गाँव-वालों के सामने मुस्करा दिया और रात्रि-निवास उसी मकान में किया। रात्रि बीतना आरम्भ हुई और अन्त में आधी रात का समय उपस्थित हो गया, जो ब्रह्म-राक्षस के आने का समय था। ब्रह्म-राक्षस श्री नामदेव जी के सामने प्रकट हो गया। उसका शरीर बहुत ही लम्बा, चौड़ा और सूरत भयावनी थी। श्री नामदेव जी ने देखते ही उसे भगवत्-भाव से प्रणाम किया और भक्ति-भाव से नाचते हुए यह भजन गाना आरम्भ कर दिया—

भले पधारे लंबक नाथ !
धरनी पाँव, स्वर्ग लौं माथा,
जोजन भरके लम्बे हाथ।

× × ×

नामदेव के तुमहीं स्वामी,
कीजे मो कों आज सनाथ ॥

× × ×

जब यह पद गावत भये,
तब वह प्रेत तुरन्त।
पाया चतुर्भुज रूप तहँ,
भयो विकुण्ठ बसंत ॥

वह भयानक ब्रह्म-राक्षस तत्काल भगवत् स्वरूप, विट्ठल के रूप में बदल गया। भक्त प्रवर श्री नामदेवजी की भावना में तो वह पहले ही से विट्ठल रूप था।

श्री नामदेव जी को अपने आराध्यदेव श्री विट्ठल भगवान् पर पूरा-पूरा भरोसा था। एक समय भक्त प्रवर श्री नामदेव जी और योगिराज श्री ज्ञानेश्वर जी तीर्थ-यात्रा करते हुए प्रभास, द्वारिकापुरी क्षेत्र और अन्यान्य मोक्षपुरियों के दर्शन-लाभकर साथ-साथ लौट रहे थे। रास्तेमें बीकानेर के समीप कौलायतजी नामक गाँव आ गया। दोनों आध्यात्मिक पुरुषों को बहुत ही तेज प्यास लगी थी। पास में ही एक कुआँ था, परन्तु वह सूखा था। श्री ज्ञानेश्वरजी सिद्धि प्राप्त योगी थे। अतः उन्होंने लघिमा सिद्धि के द्वारा कुएँ के भीतर जमीन में प्रवेश कर जल पी लिया और नामदेवजी के लिए जल लेकर वे ऊपर आ गये। उन्होंने श्री नामदेव जी से जल ग्रहण करने को कहा, परन्तु श्री नामदेव जी ने वह जल ग्रहण नहीं किया। वे विट्ठल

के प्रेम में आत्म-विभोर होकर कह रहे थे कि "क्या मेरे विट्ठल को मेरी चिन्ता नहीं है।" उनका इतना कहना था कि भगवत्कृपा से कुआं जल से भरकर बह निकला। भक्त के प्रेम-बन्धन का प्रभाव देखकर ज्ञानेश्वरजी को महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने अनेक प्रकार से श्री नामदेव के पवित्र ईश्वर-प्रेम की सराहना की।

वैसा प्रेम जैसा श्री नामदेवजी में विद्यमान था, भगवत्-कृपा से ही मिलता है। अभ्यास के द्वारा मनुष्य इसे नहीं प्राप्त कर सकता। भगवान् की कृपा से ही एकमात्र भगवान् में प्रियतम-भाव पैदा होता है। जिसके मन में भगवान् प्रियतम हो जाते हैं उसे फिर भगवान् की मूर्ति, भगवान् के गुणानुवाद, भगवान् के भक्त, भगवान् के नाम, भगवान् की चर्चा आदि भगवत्सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु अति प्रिय हो जाती है। ईश्वर प्रेम के निरतिशय सुख का लोभी मनुष्य उस सुख को पल भर के लिए भी छोड़ नहीं सकता। श्री नामदेवजी का पूरा शरीर ईश्वर प्रेम से ओत-प्रोत था। श्री नामदेवजी की ईश्वर प्रेम-भावना कितनी बढ़ी हुई थी, इसका अनुमान उपरोक्त घटनाओं से लगाया जा सकता है। अनेक प्राणियों को भक्ति-मार्ग में लगाकर वि० सं० १४०७ में ८० वर्ष की अवस्था में आपने अपने नश्वर शरीर का त्याग कर परलोक गमन किया। ऐसे ईश्वर-भक्त को सादर नमन के साथ हम भी लेख को यहीं विश्राम देना उचित समझते हैं। अपने आराध्यदेव के श्री-चरणों में बारम्बार साष्टांग प्रणाम के बाद प्रार्थना है कि करुण-कृपा सदैव बनाये रखने की कृपा की जाय।

—❀—

—❀ निर्भय योगी ❀—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी, शान्तिश्चिरंगेहिनी।
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः॥
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः॥

धैर्य जिसका पिता है, क्षमा माता है, नित्य शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया भगिनी है, तथा मनः संयम भ्राता है, भूमि तल ही जिसकी कोमल शय्या है, दिशाएँ ही वस्त्र है, और ज्ञानामृत ही जिसका भोजन है। जिसके ये सब कुटुम्बी हैं, कहो मित्र ! उस योगी को किससे भय हो सकता है।

—साधुवेष में एक पथिक

सत्यं · शिवं · सुन्दरम्

पसीने के फूल

यह उस समयका प्रसंग है, जब रामचन्द्र जी शबरी से मिलने गये थे। रामचन्द्रजी जिस वन में बैठे थे वहाँ चारों ओर फूल खिले थे। वे फूल कुम्हलाते नहीं थे, सूखते नहीं थे। उनसे हमेशा मधुर गन्ध निकलती रहती थी। राम ने शबरी से कहा—ये फूल किसने लगाये हैं ?

शबरी ने कहा—"राम ! इसका एक इतिहास है।" रामचन्द्रजी ने पूछा—कौन सा इतिहास ? शबरी ने बताया—राम सुनो, एक बार आश्रम में लकड़ी न होने के कारण मातंग ऋषि विचार में डूबे हुए थे। यहाँ मातंग ऋषि का आश्रम था। उनके आश्रम में बहुत से विद्यार्थी थे। उस आश्रम में दूर-दूर से बहुत से ऋषि-मुनि आकर रहते थे। बरसात पास आ रही थी। इतनी लकड़ी की आवश्यकता थी कि वह चार महीने बरसात में काम दे सके। लेकिन विद्यार्थी जा नहीं रहे थे। अन्त में वृद्ध मातंग ऋषि कन्धे पर कुल्हाड़ी रखकर निकले। आचार्य को जाते देख सारे विद्यार्थी भी निकले। आश्रम के मेहमान भी निकले। सब लोग दूर जंगल में गये। उन्होंने सूखी लकड़ी काटी और बड़ी-बड़ी गठरियाँ बाँधी। उन गठरियों को सिर पर उठाकर सब लोग लौटे। वे गरमी के दिन थे। तेज धूप पड़ रही थी। सब लोग पसीने से तर हो रहे थे। उनके अंग-प्रत्यङ्ग से पसीना टपक रहा था। तीसरे पहर के समय सब आश्रम में लौटे। उस दिन फिर छुट्टी हो गई। सब लोग श्रान्त थे। थक गये थे। जल्दी ही सो गये।

प्रातः काल मातंग ऋषि उठे। सारे विद्यार्थी उठे। सब लोग स्नान के लिए चले। एक दम सुगंध आई। उस मंद-मंद वायु के झोंके के साथ प्रसन्न करने वाली खुशबू आने लगी। वैसी खुशबू पहले कभी नहीं आई थी। सब लोग आश्चर्य से पूछने लगे—यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है। अन्त में मातंग ऋषि ने कहा—जाओ देख आओ। हरिणों की तरह छलांग मारते हुए बच्चे निकले। उन्हें दिखाई दिया—जिस वन-मार्ग से लकड़ियों के गट्ठे लेकर सब आश्रम प्रवासी निकले थे और जिस-जिस जगह लोगों का पसीना गिरा था, वहाँ एक-एक सुन्दर फूल खिला हुआ है (अनुपम गन्ध उनमें से आ रही है। शबरी ने कहा—हे श्रीराम यह फूल उन सभी आश्रम प्रवासियों के पसीने से पैदा हुए फूल हैं।

इसी प्रकार पसीने की कमाई सदा पुष्पित पल्लवित और सुगन्धित होती रहती है।

—मानेगुरु

× × ×

जनाराधन

जन मानस उसे मान देता है जिसका चित्त लोक का चित्त बन जाता है लोकाराधन जगत की सबसे बड़ी तपस्या है। ऐसे

साधक को अपना अहङ्कार तजकर सर्वस्व समाज के चरणों पर अन्तर मन से समर्पित करना पड़ता है। समर्पण की इस क्रिया की सिद्धि साधक को अमाराध्य बना देती है, और पुजारी को देवता। जन मानस की पग-धूलि को नमन करने से, सेवक स्वयं लोक में विभुति बन जाता है। —सुधाकर पाण्डे

साधना का उद्देश्य

जीव इस नाम रूपात्मक जगत् के जाल में फंसकर इस बात को भूल गया है कि वह ईश्वर की ही सत्ता का एक अंश है। यह मूल अज्ञान ही जीव का बन्धन है और इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य होना चाहिए।

बुद्धि दृष्टि

संसार में नेत्रों से देखकर चलने वाले मनुष्य ही नहीं, कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु आदि सभी प्राणी हैं पर नेत्रों से जो कुछ दीखता है उसे बुद्धि दृष्टि से तत्त्वतः जानने वाले सहस्रों के मध्य विरले मानव ही मिलते हैं। बुद्धि दृष्टि से देखने वालों को ही प्रत्येक वस्तु के भीतरी रूप का ज्ञान होता है और वे ही दूरदर्शी कहलाते हैं।

—साधुवेश में एक पथिक

योग्यता का सदुपयोग

मनुष्य में शक्ति की कमी नहीं है, प्रबल तथा श्रम की भी प्रायः कमी नहीं दीखती, कमी है लक्ष्य के ज्ञान और प्राप्त शक्ति तथा योग्यता के सदुपयोग की।

—साधुवेश में एक पथिक

सद्गुरु वन्दन

जिस प्रकार पूर्व काल में महामना देवताओं ने समुद्र मन्थन द्वारा अमृत प्राप्त किया था उसी प्रकार जिन्होंने वेद रूप महासागर का मन्थन कर इस ज्ञानामृत का उद्धार किया तथा परमात्मा का भी साक्षात्कार किया उन गुरुदेव को नमस्कार है।

—आचार्य शङ्कर

समय का मूल्य

समय नाम की जो वस्तु है, वह बहुत ही मूल्यवान है। लाख रुपया व्यय करने पर भी एक क्षण का समय भी नहीं मिल सकता। अतः हमको समय का आदर करना चाहिए। जो समय का आदर करता है वह काल को जीत लेता है अर्थात् जन्म-मरण से सदा के लिए छूट जाता है। फिर उसे काल कभी नहीं मार सकता। यों समझना चाहिए कि अपने समय को नष्ट करना मनुष्य जन्म को नष्ट करना है। —श्री जयदयाल गोयन्दका

समाधिस्थ पुरुष की आचरण निष्ठा

समाधिस्थ पुरुष की आचरण निष्ठा किस प्रकार की होती है, जगत् के साथ उसके व्यवहार का स्वरूप कैसा रहता है स्वयं में उसका व्यक्तित्व किन गुणों से समन्वित रहता है, सांसारिक द्वन्द्व उसकी स्थिति को प्रभावित कर पाने में कहाँ तक कितने समर्थ हो पाते हैं, क्या जागतिक द्वन्द्वों के प्रबल आवेगों को वह हिमालय के समान अडिग रहकर अविचलित भाव से सहन कर उन्हें सहज तथा आने जाने देता है अथवा द्वन्द्वा-आवेगों की टकराहट में असहन शील बनकर वह बालू के कणों की तरह बिखर तो नहीं जाता?

—आचार्य विनोबा

ज्ञान और श्रेष्ठता

श्री देवेन्द्र परमार्थी

निरन्तर भलाई करते रहने से अन्त में एक ऐसा समय आ जाता है जब मन में ब्रह्मज्ञान का प्रकाश हो जाता है। जिसके बल से मनुष्य वस्तुओं में कार्य-कारण के सिद्धान्त को भलीभाँति समझने लगता है। एक बार इस ब्रह्मज्ञान के प्राप्त हो जाने से मनुष्य भलाई करने में दृढ़ हो जाता है और लोभ लालसा के आक्रमणों से भी तनिक नहीं हिलता, किन्तु संसार का उपकार करने के लिए अपने कार्य में स्थिर हो जाता है।

जब भलाई से बुद्धि परिपक्व हो जाती है तब सब प्रकार के लोभ-लालच जाते रहते हैं और बुराई का होना असम्भव हो जाता है। जब मनुष्य को प्रतिदिन के जीवन में कार्य-कारण का सम्बन्ध दीखने लगता है तब फिर वह कभी बुराई की ओर नहीं झुकता, उसकी नीच, राक्षसी प्रवृत्तियां सदैव के लिए नष्ट हो जाती हैं।

जब तक मनुष्य उन नियमों को भलीभाँति नहीं समझ लेगा, जिन पर जीवन का आधार है, तब तक चाहे वह कितनी ही बार अपने गुणों को प्रकट करे, तो भी वह भलाई और सदाचार में दृढ़ नहीं रह सकता और अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक उसे भलाई-बुराई की पहचान नहीं हो सकती और न वह अच्छे-बुरे कामों को ही जान सकता है। पूर्ण ज्ञान के न होने से मनुष्य लालच के वश आचरण संबंधी दोषों के कारण गिर जाता है। इस दोष ने ही उसकी आत्मिक ज्योति को धुंधला बना रखा है और उसमें पूर्ण ज्ञान भी नहीं होने देता। जब मनुष्य इस धुंधलेपन को दूर कर देता है, तब उसे अपने दोषों का कारण ज्ञात हो जाता है और तब फिर वह उनको दूर करने में लग जाता है। ज्यों-ज्यों वह उनको दूर करता जाता है, त्यों-त्यों भलाई और श्रेष्ठता के सोपान पर चढ़ता जाता है और विशुद्ध जीवन में केवल ज्ञान को ही प्राप्त करके परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि लोग हृदय की शुद्धता के कारण नहीं, किन्तु मित्रों के भय से अथवा लोकाचार व रीति-रिवाज के भय से कुमार्ग से प्रवृत्त होता हुआ भी मालूम नहीं होता और समझता है कि मैं बड़ा सदाचारी और सतोगुणी हूँ, परन्तु यह उसका भ्रम ही होता है। यथार्थ में ऐसे लोग सतगुणों के विषय में कुछ भी नहीं जानते। इस बात का प्रमाण यही है कि समस्त बाह्य-रुकावटों को हटा दो और रीति-रिवाज का जो भय उन्हें जमा हुआ है, उसे मिटा दो, फिर देखो उनके सतगुण कहाँ जाते हैं। जरा से लालच के आने पर उनके दुर्गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं, परन्तु इसके विपरीत जो मनुष्य वास्तव में सतगुणी होता है वह प्रायः देखने में तो साधारण मनुष्यों के सदृश ही मालूम होता है, उसमें कोई विशेष गुण लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु यदि कोई असाधारण घटना हो जाय, जिसमें उसकी परीक्षा का अवसर आ जाय अथवा किसी

भयंकर विपत्ति में पड़ जाय, तो उसके गुप्त सद्गुण आप ही सौन्दर्य और शक्ति के साथ प्रकट हो जाते हैं। निःसन्देह वह मनुष्य, जिसने बुराई को जीत लिया है उसके कारणों को समझ लिया है, किसी से भी गुस्सा या द्वेष नहीं करता। वह दूसरों दुष्चरित्रों को देखकर उनकी आत्मिक दुर्दशा का पता लगाता है जिसके कारण उनकी यह दशा हुई, और इसलिए वह उन पर दया, अनुकम्पा और अनुग्रह करता है। यह आत्मिक ज्ञान के ही कारण है। यदि उसमें आत्मिक ज्ञान न होता तो वह दया करने के स्थान पर घृणा और द्वेष करता, कारण कि आत्मिक बोधके साथ प्रीति और शोक के साथ दया सदैव बनी रहती है।

यह आत्मिक ज्ञान जो आत्म विशुद्धि और भलाई से उत्पन्न होता है, मनुष्य के चरित्र को परिपक्व कर देता है। उससे मनुष्य में दृढ़ता और माधुर्यता आ जाती है। बुद्धि निर्मल और इच्छा दृढ़ हो जाती है, और हृदय पवित्र तथा विशुद्ध हो जाता है जिससे उसका जीवन, ज्ञान, सौन्दर्य, माधुर्य और वात्सल्य पूर्ण हो जाता है। इस भाँति जब कि भलाई से आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो आत्मिक ज्ञान से भलाई भी चिरस्थाई हो जाती है। मनुष्य के ललाट पर ईश्वरी छाप लग जाती है। चाहे ऐसे मनुष्य की संसार में कुछ भी प्रसिद्धि न हो, परन्तु उसका जीवन बड़ा दृढ़ और सबसे उत्तम होता है, कारण कि भलाई से बढ़कर संसार में कोई प्रबल शक्ति नहीं है। ऐसा मनुष्य जिस दिशा में रहता है और जिस समाज में जन्म लेता है, उसे भी भारी कीर्ति प्राप्त होती है चाहे लाभ उसके जीवन काल में प्रतीत न हों। भलाई में ऐसी प्रबल शक्ति है कि संसार का भाग्य सदैव भले मनुष्यों के हाथ रहा है और रहेगा। भले मनुष्य ही संसार के नेता, पथ प्रदर्शक और उद्धारक रहे हैं।

भलाई से प्राप्त आत्मिक ज्ञान से मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थों को सत्यता के प्रकाश से देखता है, जिस प्रकाश में सम्पूर्ण पदार्थ स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होते हैं। जो मनुष्य सत्य और श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा अपने ही हृदय की खोज करता है वह सब के हृदय का पता लगा लेता है। जिस मनुष्य ने इस सिद्धान्त को समझ लिया है जो उसके हृदय में काम कर रहा है, उसने उस ईश्वरीय नियम का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है जो संसार की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है। आत्मिक ज्ञान से सर्व प्रकार के भ्रम निकल जाते हैं। और मिथ्या विचारों का अन्त हो जाता है। मिथ्या विश्वास पाप के द्वारा उत्पन्न होते हैं अज्ञानता का चश्मा लगाकर मनुष्य सर्वत्र बुराई ही बुराई देखता है। बुराई कुछ भी नहीं है केवल उसकी अज्ञानता व भ्रम है। वह हृदय के पापमय विचारों के कारण सदैव दुःखी और क्लेशित रहता है। यद्यपि दुःख और क्लेश कुछ भी नहीं हैं। जहाँ विशुद्ध और निर्मल ज्ञान है, वहाँ मल का नाम नहीं।

समय का मूल्य

श्री अमित प्रताप नारायणसिंह

कालो अश्वो वहति सप्त रश्मि ।

सात किरणों वाला घोड़ा दौड़ा जा रहा है। समय रूपी अश्व भागता चला जा रहा है। दिन, रात, सप्ताह, मास और वर्ष व्यतीत होते जा रहे है। वह न कभी ठहरता है, न विश्राम करता है।

मनुष्य के जीवन में समय का अत्यधिक महत्व है। समय जा रहा है, बड़ी तीव्र गति से जा रहा है। देखिये और समय रूपी अश्वों को पकड़िये। मानव जीवन कराल कालका ग्रास बनने के लिए नहीं है वरन् काल (समय) पर सवार होकर काल (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करने के लिए है। समय रूपी अश्व की पीठ पर बैठकर उसके साथ-साथ दौड़िये और मृत्यु पर विजय प्राप्त कीजिये, नहीं तो देखते देखते जीवन समाप्त हो जायगा और आप जहाँ है वहीं रह जायेंगे, कुछ नहीं कर पायेंगे इस संकुचित जीवन में।

समय मूल्यवान वस्तु है। हम जिसे समय कहते है वही तो जीवन है। जीवन के सारे घण्टे, दिन, महीनों और वर्षों को आप चाहें तो अपने को उच्च और सफल बनाने में लगा सकते है अथवा यों ही नष्ट कर सकते है।

कहते है स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल में समय के सदुपयोग का बहुत ध्यान रखते थे। उनका विचार था खाली मन शैतान का घर होता है। अतः वे छात्रों को उपदेश देते हुए कहा करते थे—'यदि तुम जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहते हो और अमृतत्व की अभिलाषा रखते हो तो निरन्तर कार्य में लगे रहो। याद रखो तुम 'नर' हो। 'नर' उसको कहते है जो 'न रमते इति नरः' अर्थात् जो कभी विश्राम नहीं करता है, वही नर है। दूसरे शब्दोंमें नदी की धारा जो निरन्तर अविराम गति से बहती जा रही है। ठीक उसी प्रकार समय भी निरन्तर भागता जा रहा है और नर वही है जो नदी की धारा की तरह समय के साथ भागता है, ऐसा मनुष्य कभी इन्द्रियों का दास नहीं बन सकता।

कार्लाइल ने कहा है, 'हमारे भाग्य-नेत्रों को हमेशा कौन देख सकता है। पल भर के लिए कल्याण का मौका आता है, हम उसे छोड़ देते है और महीनों तथा वर्षों की पूजा नष्ट हो जाती है।

आखिर यह जीवन है क्या ? कुछ क्षणों का संघात ही न ? प्रत्येक क्षण मानव को परमात्मा के द्वारा दी गई सबसे बड़ी पूँजी है। एक-एक क्षण की पूँजी यदि हमने गवाँ दी तो जीवन ही चौपट हो जायगा। यदि हमने समय का मधुर रस नहीं पिया तो समय ही सारा रस पीकर हमें चूसी हुई नारंगी की तरह एक किनारे फेंक देगा। कहावत है कि 'लेने योग्य देने योग्य' तथा करने योग्य कार्यों का सम्पादन जब शीघ्रता से नहीं होता है तो उनका रस काल (समय) पी जाता है। समय का कारवाँ सामने से गुजर जाने पर लाख गुहार मचाने पर भी लौटता नहीं।

किसी ने ठीक कहा है 'कल' शैतान का

सेनापति है। इतिहास के पन्ने इस 'कल' की तलवार से काटे गये असंख्य प्रतिभाशालियों के खून से रंगे पड़े हैं। कितनों की योजनायें 'कल' के मरुस्थल में सूख गयीं। कितनों के निश्चय 'कल' राक्षस की दाढ़ के नीचे आ गये, कितने पछताते रह गये। 'कल' अकर्मण्यता और आलस्य का दूसरा नाम है।

एक चित्रशाला में एक चित्र टंगा था। इस चित्र का चेहरा बालों से ढंका हुआ था और उसके पैरों में पर (पंख) लगे हुये थे। दर्शक ने पूछा 'यह किसका चित्र है?' चित्रकार ने कहा 'यह अवसर (समय) का चित्र है।' दर्शक ने पूछा 'इसका मुख क्यों ढंका है?' चित्रकार बोला 'क्योंकि जब यह मनुष्यों के सामने आता है, तब वे इसे पहचान नहीं पाते।' इसके पैरों में पंख क्यों लगे हैं? चित्रकार ने बताया 'क्योंकि यह शीघ्र चला जाता है, और इसके एक बार चले जाने के बाद फिर इसे कोई पा नहीं सकता। समय चूक कर पछताने से क्या लाभ, जब काल की चिड़िया ही हमारे जीवन का खेत चुग गयी। इसलिए महात्मा कबीर ने ठीक ही कहा है कि जो करना है उसे अभी आज करो, जिसे आज करना है उसे अभी बिलकुल अभी करो—

काल करै सो आज कर,
आज करै सो अब्ब।
पल में परलय होइगी,
बहुरि करैगा कब्ब॥

इस बात को एक यूरोपियन लेखक ने लिखा है कि समय के सिर के अगले भाग में बाल है, और पिछले भाग में वह गंजा है। यदि तुम उसके सामने के बाल पकड़ लो अर्थात् जब वह आगे तब उसका उपयोग कर लो तो उसे पकड़े रह सकते हो। यदि उस समय तुम चूक गये तो बाद में पकड़ना असम्भव है।

मित्रों, समय नाट करना पाप है, आत्महत्या है। इस संसार में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो परन्तु कर्म करते हुए ही जिओ। कर्मशील बनो, प्रमादी न बनो। ईश्वर ने मनुष्य को श्रम करने को बनाया है। यही आदर्श उसके सामने रखा है—'श्रमेण तपसा सृष्टा'।

ईश्वर ने परिश्रम के लिए, पुरुषार्थ के लिये मनुष्य को बनाया है। सब पदार्थ जाकर आते हैं, पर गया समय लौट कर नहीं आता। समय को जाने से रोकना तुम्हारे बस की बात नहीं, परन्तु उसका सदुपयोग करना तुम्हारे बस की बात है। अपने दैनिक जीवन को घड़ी की सुई के समान सततगामी, नियतगति गामी और संयमित बनाओ। चाहे घड़ी चूक जाये पर तुम न चूको।

प्रत्येक समय के लिये एक नियत कार्य।
प्रत्येक कार्य के लिये एक नियत समय॥

मित्रो! मनुष्य के प्रत्येक क्षण की कीमत है। मुझे बेंजामिन फ्रेंकलिन की एक घटना याद आ रही है। एक बार उनकी दुकान के सामने घूमते रहने के बाद एक व्यक्ति ने दुकान में प्रविष्ट होकर एक किताब की कीमत पूछी।

परमधर्म—योग

स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

योगाङ्गों पर एक दृष्टि

निवृत्ति-प्रधान धर्म है 'योग'। याज्ञवल्क्य ने आत्म-दर्शन के साधन योग को 'परमधर्म' कहा है। योग पौरुष-साध्य है, जीव के द्वारा अनुष्ठित होता है, उसकी भी एक विधि है। वह त्वं-पदार्थ-प्रधान है। द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान ही योग है। इसलिये निवृत्ति-प्रधान साध्य धर्म के अन्तर्गत योगका भी सन्निवेश है। योग के आठ अंग हैं। अंगों के क्रम पर एक चलती फिरती दृष्टि डाल लें, पहला 'यम' है। यम के पाँच विभाग हैं- सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। शत्रु चार हैं और निवर्तक पाँच हैं। काम का निवर्तक ब्रह्मचर्य है। सबके अन्त में इसकी गणना इसलिये है कि पराधीन करने वाली वृत्तियों में यह सबसे प्रमुख है और पहले के चार गुणों के सहकार से ही इस पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कामकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है। वह बार-बार जीने-मरने का स्वांग करता रहता है। आत्मा से अतिरिक्त देशान्तर, कालान्तर या वस्त्वन्तर रूप में विद्यमान या वर्तमान किसी वस्तु को चाहना काम है। न चाहने के रूप में भी काम ही रहता है, इसी से कामरूप को 'दुरासद' कहते हैं, उसको पकड़ पाना कठिन है। नित्य-प्राप्त सत्ता के खो जाने की भ्रान्ति और अन्य की प्राप्ति की इच्छा काम का मूल है। इसकी निवृत्ति के लिए अद्वय-तत्त्व का, ब्रह्म का, आत्म-रूप से ज्ञान अपेक्षित है। ब्रह्म के लिए चर्या ही इस इच्छा को मिटा सकती है।

यमों द्वारा व्यावृत्त्य

स्तेय, लोभ एक दुर्गुण है। यह दो रूप धारण करके आता है। जिस वस्तु पर अपना स्वत्व नहीं है उसको किसी प्रकार प्राप्त करना इसका नाम स्तेय है। दूसरा रूप है—जो वस्तुएँ अपने पास हैं, जिन पर अपना स्वत्व

उत्तर मिला 'एक डालर'

'कुछ कम नहीं'

'नहीं।'

खरीदने वाले ने इधर-उधर देखा और उस कर्मचारी से पूछा, क्या फ्रेंकलिन अन्दर है ? मैं उनसे मिलना चाहूँगा।' फ्रेंकलिन बाहर आये और दाम पूछने पर उन्होंने कहा 'सवा डालर'।

आश्चर्य चकित होकर ग्राहक ने कहा, 'अभी तो आपका कर्मचारी इसकी कीमत एक डालर बता रहा था ?'

'जी हाँ, यह चौथाई डालर मेरा वक्त नष्ट करने के लिए देना पड़ेगा आपको।'

'अच्छा तो एक कीमत बताइये, जो लेनी हो।' अब डेढ़ डालर। जितनी देर करते जायेंगे उतनी कीमत बढ़ती जायेगी।

एक के बजाय डेढ़ डालर देकर ग्राहक महोदय आगे बढ़े। उनको मालूम हो गया कि वक्त की भी कुछ कीमत है और चाहे वह दुकान के सारे समय चक्कर लगाकर समय नष्ट कर दे, फ्रेंकलिन सरीखा जागरूक आदमी एक मिनट भी नष्ट करने को तैयार नहीं।

है उन्हें अधिक से अधिक संग्रह करके अपने साथ रखे, परिग्रह करे, इसका नाम 'परिग्रह' है। लोभ के इन दोनों तरुण-तनयों को वश में करने के लिए अस्तेय और अपरिग्रह नाम की दो वृत्तियाँ आवश्यक होती हैं। पहले अन्यायपूर्वक उपार्जन का परित्याग, फिर आवश्यकता से अधिक संग्रह का परित्याग।

काम और लोभकी पूर्ति न होने पर मनुष्य के मन में क्रोध का उदय होता है। इच्छा-पूर्ति में बाधा डालने वाले के प्रति द्वेष भी होता है। द्वेष और क्रोध ज्वलनात्मक-वृत्ति के रूप में प्रचण्ड हो उठते हैं और हिंसा तथा विद्रोह के रूप में झण्डा उठाते हैं। यह आग है और हिंसा उसकी ज्वाला। हिंसाके निरोध के लिए अहिंसा की आवश्यकता होती है। अहिंसा आत्म-स्वरूप के अनुरूप अन्तःकरण का एक गुण है। स्वरूप-स्थिति के अधिक अनुकूल पड़ता है। यह करुणा तथा क्षमा से भी अन्तरङ्ग है, क्योंकि वे दोनों व्यवहार-दशा में ही रहते हैं। अहिंसा शान्ति के रूपमें व्यवहार-शून्य दशा में विद्यमान रहती है।

यमों का प्रयोजन

हमारी वाणी कर्म-कलाप, काम-संकल्प, विचार-विवेक, असत्य से अनुविद्ध हो गई है। हमारी बुद्धि अधिकांश असत्य को ही सत्य के रूपमें ग्रहण करती है और व्यवहार करती है। व्यवहार में माता के लिए सत्य अलग होता है, पत्नी के लिए अलग। यह सत्य की विभाजक-रेखा समाधि लगाये बिना टूट नहीं सकती और स्वरूप-सत्य का साक्षात्कार होने के लिए ऐसा आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यदि केवल वाणी से ही सत्य-भाषण प्रारम्भ कर दिया जाय तो सत्य क्या है? यह जिज्ञासा जाग जायेगी। हम सत्य को जानेंगे तब सत्य को बोलेंगे। क्या बौद्धिक मानस या ऐन्द्रियक सत्य ही सत्य है? आत्म-सत्य सर्वथा गुप्त-लुप्त-सुप्त हो गया है। आत्म-सत्य क्या है? इस जिज्ञासा का बीज सत्य-भाषण में निहित है। आपकी दृष्टि से जो असत्य है वह न बोलें, न करें, न सोचें। आपके जीवन में एक दिन ऐसा आयेगा जब आप वास्तविक मौन का महत्त्व समझ जायेंगे। सत्य के साक्षात्कार के बिना बोलने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। सत्य की अभिव्यक्ति मौन में होती है।

कहना न होगा कि अष्टांग योग का यह प्रथम अंग यम न केवल अपने लिए हितकारी है, प्रत्युत लोक-व्यवहार में समाज-सेवा के लिए भी बहुत उपयोगी है। धर्म-कथा में साधारण धर्म का सार यही है। वेदान्त के साधन-चतुष्टय में शम-दम आदि रूप षट्-सम्पत्ति भी इसी का परिपाक है। यह यम ही आदि में धर्म है और अन्त में अधिकार-सम्पत्ति। यह जिज्ञासु के जीवन में इतना घुल-मिल जाता है कि तत्त्व-ज्ञान होने पर भी इसमें शिथिलता नहीं आती। जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का आधार बनकर जीवन्मुक्त पुरुष के जीवन में उल्लसित होता रहता है। अन्तर्मुखता के साधनोंमें यही प्रथम है, इसके बिना किसी साधन की नींव मजबूत नहीं होती।

दूसरा अङ्ग—नियम

योग का दूसरा अङ्ग है 'नियम'। यह व्यक्तिगत जीवन के निर्माण का आवश्यक साधन है। एक वस्तु जब दूसरी वस्तु के साथ मिश्रित हो जाती है तब दोनों ही अपने शुद्ध-रूप में नहीं रहतीं। मिट्टी और पानी मिलकर कीचड़ बन जाते हैं। शक्कर और जल का मिश्रण शर्बत हो जाता है। न शुद्ध जल रहा, न शुद्ध शक्कर। इसी प्रकार मनुष्य का चरित्र भी भिन्न-भिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों के समागम से अपने शुद्धरूप अर्थात् पवित्रता को खो बैठता है। आत्मा-अनात्मा का मिश्रण भी अशुद्धि ही है। मनुष्य के चरित्र में जब पवित्रता की रुचि उदित होती है तब वह बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों ही प्रकार से पवित्र रहने का प्रयास करता है। शरीर पर मैल चढ़ने से धोने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मन में शत्रु-मित्र के प्रवेश से क्रोध-काम रूप मलिनता आ जाती है और उसके निवारण के लिए द्वेष की आग बुझानी पड़ती है और राग का रंग छुड़ाना पड़ता है। ऐसा कोई भी रस नहीं है जो शरीर के बहिर्देश या अन्तर्देश में प्रवेश कर जाय और उसको निकालना न पड़े, इसीको 'शौच' कहते हैं। यह अन्तरंग और बहिरंग के मल को प्रक्षालित करने की प्रक्रिया है। स्नान सन्ध्या-वन्दनगत अघमर्षण से यह सम्पन्न होता है। शरीर में जो भोग का अभ्यास हो गया है वह गहराई में उतर गया है। भोग का अभ्यास एक रोग है, वह जितना-जितना बढ़ता है उतना-ही-उतना राग-संस्कार घनीभूत होता है, साथ ही भोग के कौशल बढ़ते हैं। भोगी पुरुष किसी-न-किसी को दुःख पहुँचाकर ही भोग करता है। अतएव भोग-वृत्ति के संकोच का नियम लेना चाहिये। अपनी रुचि के अनुसार कुछ न हो, न मिले, कोई न बोले तो थोड़ा कष्ट सहकर भी अपने को संयत रखना चाहिये। संयमहीन मनुष्य पशु हो जाता है। (चाहे जिस खेत में, चाहे जिसकी खेती पर मुँह मार दिया।) जो स्वधर्म-पालन के लिये कष्ट सहन नहीं करता वह धर्मात्मा नहीं, ढोंगी है। योग सम्बन्धी नियम में जो तप है वही वेदान्तियों की षट्-सम्पत्ति में तितिक्षा बनकर प्रकट होता है। तप की माँ है धृति, बेटी है तितिक्षा। जिसके जीवन में तप नहीं है, वह किसी मन्त्र का रक्षा या ज्ञान के धारण में समर्थ नहीं हो सकता।

शौच है—तन-मन में बाहर से लगे हुए मल को निकाल देना। तप है भीतर-ही-भीतर तन-मन को तपाकर कुन्दन बना देना। इसके बाद अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिये 'स्वाध्याय' की आवश्यकता पड़ती है। धर्म में स्वाध्याय का अर्थ होता है सांग-वेदों का अध्ययन। कम-से-कम अपनी शाखा के वेदों का अध्ययन। उपासना में स्वाध्याय का अर्थ होता है इष्ट देवता के दर्शन के लिये जप। जप से प्रपंच की विस्मृति और बार-म्बार लक्ष्य का स्फुरण होता है। स्वाध्याय

बार-बार प्रपंच का विस्मरण कराता है और लक्ष्य का स्फुरण। इससे अभ्यास एवं वैराग्य की परिपुष्टि होती है। जप में स्वरूपतः अभ्यास है, दुहराना है और लक्ष्य से अतिरिक्त वृत्ति का उच्छेद है। स्वाध्याय से लक्ष्य की ओर अभिरुचि बढ़ती है।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि अपने साधन-शरीर को परिपुष्ट रखने के लिए किसी बाह्य वस्तु के लिए व्याकुल न हों। निर्वाह-मात्र के लिये ही खान-पान, परिधान, शयन-स्थान अपेक्षित है, सुख लेने के लिए या ममता करनेके लिए नहीं। यदि बाह्य वस्तुओं से ही अपने को गौरवशाली महामहिम माना जाय तो अन्तर में जो गरिमा सुषुप्त है वह जाग्रत नहीं होती, क्योंकि उसकी ओर पीठ हो जाती है। आप असंग आत्मा होनेसे श्रेष्ठ हैं कि बहिरङ्ग पद-प्रतिष्ठा, प्रशंसा, भोग-राग की प्राप्ति से? आपकी आत्म-तुष्टि कहाँ है? 'संतोष' के बिना साधना निष्प्राण हो जाती है। हाँ, वह संतोष लक्ष्य-प्राप्ति की साधना से नहीं, बाह्य वस्तुओं की लिप्सा से विरति के रूप में होना चाहिए।

यह जीव तब तक शिव से एक नहीं होता, जब तक पूर्णता एवं अपूर्णता प्रतीति दृष्टि, उल्लास या कल्पनामात्र नहीं हो जाती, तब तक अपनी अल्पज्ञता और अल्पशक्तिता के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जीव, जीव ही है। साधन की सभी कक्षाओं में जीवत्व अनुगत रहता है। जीवत्व के साथ निर्बलता जुड़ी हुई है। वह कभी उदास होता है, कभी निराश होता है, कभी थोड़ी देर के लिये उल्लास भी तरंगायित हो जाता है। जैसे शरीर स्वस्थ-अस्वस्थ होता रहता है, वैसे मन भी खिलता-मुरझाता रहता है। जैसे शरीर के लिए चिकित्सक और चिकित्सा की आवश्यकता होती है, वैसे ही मन के रोगों की चिकित्सा है—'ईश्वरप्रणिधान।' ईश्वर शाश्वत है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, करुणा-वरुणालय है, परमगुरु है। जैसे साँस के साथ हवा रहती है, आँख के साथ प्रकाश-ज्योति रहती है, वैसे ही प्रत्येक मन में जो सत्त्वांश है वह महासत्त्व शरीर परमेश्वर का ही रूप है। मन कण है तो ईश्वर मृत्तिका, मन बिन्दु है तो ईश्वर सिन्धु, मन घट है तो ईश्वर घटाकाश। अतएव ईश्वर में स्वतः समर्पण की विधा से मन को देखना प्रणिधान है।' ईश्वर है प्रकृष्ट-निधान, सत्त्वात्मक मन खजाना है, कोश है। स्थिति मति-गति-रति का कारण है—परमेश्वर। उसमें अपने मन को समर्पण करना, उसी के उद्देश्य से अपने समस्त क्रिया-कलापों का अनुष्ठान, ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण 'प्रणिधान' अथवा शरणागति भाव है।

— 卐 —

'देहाभिमान ही पाप है और यही सबसे बड़ी अपवित्रता है। या तो अपनेको ईश्वर का पवित्र अभिन्न अंग आत्मा मानो या उस प्राणेश्वर प्रभुका दास मानो, आत्मा तो पवित्र और बलवान् है ही, प्रभु का दास भी स्वामी की सत्ता से, मालिक के बल से मालिक के समान ही पवित्र और बलवान् बन जाता है। —हनुमानप्रसाद पोद्दार

हिरण्मयेन पात्रेण

श्री मन्नारायण

आजकल भारत तथा अन्य विकासशील देशों में भ्रष्टाचार इस हद तक बढ़ गया है कि ऋषि विनोबा विनोद में उसे 'शिष्टाचार' कहने लगे हैं। रिश्वतखोरी, चोरबाजारी, मिलावट व कर चोरी करने में व्यापारियों उद्योगपतियों, सरकारी नौकरों व सामान्य नागरिकों को किसी प्रकार की हया या शर्म नहीं रही है। इन सामाजिक व आर्थिक कुरीतियों को राजनीतियों से भी काफी बढ़ावा मिल रहा है; क्योंकि चुनावों के लिए वर्तमान कानून के अनुसार काला धन ही एकत्र किया जा सकता है। कम्पनियाँ खुले तौर पर चेक द्वारा राजनैतिक दलों को चन्दा नहीं दे सकतीं। सभी प्रान्तों में हजारों 'बोगस' फर्मों को पकड़ा जा रहा है, जो शासन से विभिन्न प्रकार का मंहगा कच्चा माल कन्ट्रोल-भाव में प्राप्त करती रही हैं और उसे काला-बाजार में बेचकर बेहद-मुनाफा कमाती है। इस मुनाफे का कुछ अंश राजनीतिज्ञों के पास चला जाता है और इस तरह आर्थिक जुर्म करने वाले को समुचित कानूनी सुरक्षा प्रदान कर दी जाती है। इन दिनों शासन की ओर से कुछ सख्ती बरती जा रही है, यह अच्छा है। आशा है, यह कड़ा रुख जारी रहेगा।

लेकिन धन के पीछे यह पागलपन क्यों ? जो गरीब है और अपने परिवार का भरण-पोषण बड़ी कठिनाई से कर पाते हैं उनकी बेईमानी तो कुछ हद तक समझ में भी आ सकती है, किन्तु अमीर वर्ग का भ्रष्टाचार तो एक तरह की बीमारी ही समझना होगा। हम अनुभव से कह सकते हैं कि गरीबों का दिल अकसर उदार होता है, वे अपना कर्ज चुका देना पावन कर्तव्य समझते हैं। लेकिन भगवान् की कुछ अजीब लीला है कि जो व्यक्ति जितना अमीर होता है, उसका हृदय उतना ही तंग व छोटा हो जाता है, हाँ कुछ अपवादों को छोड़कर। धनी लोग इस तरह व्यवहार करते हैं मानो मृत्यु के बाद अपनी सारी धन-दौलत बटोरकर परलोक में ले जाने वाले हैं। अगर वह धन अपने बाल-बच्चों के लिए जमा करना है तो भी वह बेईमानी ही है। यदि लड़का सपूत है तो उसे पिता के द्रव्य की जरूरत नहीं, वह स्वयं पुरुषार्थ द्वारा कमाई करना पसन्द करेगा। अगर लड़का कपूत है तो फिर उसके लिए कितना ही धन छोड़ जाइए, उसे बरबाद करने व उड़ा-खाने में अधिक समय न लगेगा। दुनिया का यह आम तजुर्बा है न ?

× × × ×

ईशोपनिषद् के ऋषि ने विश्व-पोषक प्रभो से एक मार्मिक प्रार्थना की थी—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्

तत्त्वं पूषन अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

अर्थात्—सुवर्णमय ढक्कन ने सत्य का मुख ढक लिया है। जगत् का पोषण करने वाले भगवान्, मुझे सत्य के दर्शन हो सकें, इसलिए तुम यह सुनहरा ढक्कन हटाकर सारे प्रलोभन दूर करो।

यह सही है कि सत्य की खोज में स्वर्ण

का लोभ बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। 'कांचन को काष्ठवत् समझो'—यह उपदेश देना तो आसान है, पर उस पर अमल करना टेढ़ी खीर है। महात्मा गांधी ने आत्मकथा को 'सत्य की खोज की कहानी' कहा है। उसी में लिखा है कि एक बार उन्होंने लालचवश अपने किसी रिश्तेदार की बाँह के गहने में से थोड़ा सोना चुरा लिया था। लेकिन दिल ने गवाही न दी और कुछ समय बाद उन्होंने अपने पिताश्री को चिट्ठी लिखकर चोरी कबूल कर ली। पिता-पुत्र के आंसुओं ने वह पाप धो डाला।

दक्षिण अफ्रीका से वापस आते समय भी गांधीजी के जीवन में एक महत्वपूर्ण घटना घटी। वहाँ की जनता ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के हेतु बापू को बहुत-सी सोने-चांदी की घड़ियाँ व कस्तूरबा और बच्चों के लिए गहने भेंट में दिये। गांधीजी को उस रात नींद नहीं आई। वे सोचते रहे कि सार्वजनिक सेवा के उपलक्ष्य में सोने की कीमती वस्तुएँ स्वीकार करना कहाँ तक उचित होगा? अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि इन घड़ियों, गहनों आदि का एक पब्लिक ट्रस्ट बना दिया जाय, जिसके द्वारा समाज की सेवा जारी रहे। इसके लिए बच्चों को समझाना और उनकी स्वीकृति प्राप्त लेना आसान था, लेकिन बा ने दलील दी, 'इन गहनों को मैं न पहनूं, किन्तु बहुएँ क्या पहनेंगी?' गांधीजी ने उत्तर दिया 'जब हमारे बच्चे बड़ी उम्र में शादी करेंगे तब वे कमाकर अपना घर सम्हालेंगे। हम अभी से चिन्ता क्यों करें?' बा ने कई और दलीलें पेश कीं। लेकिन बापू अडिग रहे। आखिर बा की भी रजामन्दी मिल गई।

× × × ×

महाभारत में भी एक बड़ी मर्म-भरी कथा है। कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त होने के बाद युधिष्ठिर हस्तिनापुर की राजगद्दी पर आसीन हुए और उन्होंने अश्वमेध महायज्ञ आयोजित किया। वह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। बहुत से ब्राह्मणों व दीन दरिद्रों को मनमाना दान दिया जा रहा था। इतने में अचानक एक बड़ा-सा नेवला यज्ञशाला के बीच कहीं से आया और राख में लोटने लगा। उसका आधा शरीर सुनहरा था। उसने राजा-महाराजाओं व विद्वान् ब्राह्मणों से निडर होकर कहा, 'आप लोगों ने कोई बड़ा यज्ञ सफल कर लिया है, ऐसा गर्व न करें। इसके पहले कुरुक्षेत्र में ही एक महान यज्ञ हो चुका है। एक गरीब ब्राह्मण ने व उसकी स्त्री, पुत्र व बहू ने अपने-अपने हिस्से का केवल एक सेर आटा भूखे अतिथि को दान दिया था। जब मैं भूमि पर गिरे थोड़े-से आटे पर लोटा तो मेरा आधा अंग सुनहरा हो गया। लेकिन आपके इस अश्वमेध-महायज्ञ की राख में लोटकर भी मेरा बचा हुआ आधा शरीर सोने का न हो सका।'

दरअसल, असली कीमत भावना व त्याग की है, सोने-चाँदी व धन की नहीं।

× × × ×

मुहम्मद पैगम्बर का जीवन बड़ा सादा व सरल था। वे अपने सुख व आराम के लिए कोई साधन न जुटाते थे। किन्तु एक दफा अपने बहुत से कार्यों में से किसी एक को ठीक तौर से चलाने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी तब उन्होंने अपने शिष्यों से मांग की। कुछ ने जो कुछ उनके पास था, उसका आधा भाग दिया और कुछ ने तीसरा। अबू बकर ने अपना सारा धन उन्हें दे दिया। अन्त में एक गरीब स्त्री आई। उसने तीन खजूर और गेहूँ की एक रोटी भेंट में दी। उसके पास बस यही था। यह देखकर कई लोग हँस पड़े। पर पैगम्बर ने उन्हें अपना एक सपना सुनाया, 'जिसमें कुछ स्वर्ग दूत एक तराजू लाये थे।' उन्होंने एक पलड़े में उन सबकी भेंटें रखीं और दूसरे में केवल उस गरीब स्त्री की तीन खजूरें और रोटी। तराजू स्थिर रही, क्योंकि यह पलड़ा भी उतना ही भारी निकला, जितना पहला।

किसी गिरजाघर में इसी प्रकार ईसु-खीस्त के डब्बे में गरीब औरत ने केवल एक पैसा डाल दिया था और मसीहा ने सबसे ज्यादा तारीफ उसी स्त्री की की थी।

× × × ×

इसका यह अर्थ नहीं कि दुनिया में धन की कोई कीमत ही नहीं है। हम सभी को अपने परिवार या संस्था के लिए कुछ धन-सम्पत्ति जुटानी पड़ती है। लेकिन हमें सदा याद रखना होगा कि वित्त-संग्रह केवल एक साधन है, साध्य नहीं। जिस कार्य के लिए जितने धन की बिलकुल जरूरत हो, उतना ही एकत्र किया जाय, आवश्यकता से अधिक नहीं। गांधीजी वर्धा व सेवाग्राम की रचनात्मक संस्थाओं के लिए सिर्फ एक साल के बजट की रकमें देते थे। वे हमेशा कहते थे, 'कोई भी अच्छी संस्था धन के अभाव में नहीं, सेवाभावी कार्य-कर्त्ताओं के अभाव में बन्द होती है। यदि संस्था का कार्य अच्छा है तो जनता उसके लिए आवश्यक राशि जरूर देती रहेगी। अगर लोग रुपया न दें तो फिर संस्था को बन्द कर देना ही उचित होगा।

हम रोजमर्रा देखते है कि जिन संस्थाओं के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति जमा हो जाती है, वहाँ आपसी झगड़े खड़े हो जाते हैं और वह संगठन टूट जाता है। इसीलिए बापू अपरिग्रह-व्रत पर इतना जोर देते थे। यह व्रत व्यक्तियों व संस्थाओं दोनों के लिए वांछनीय है। अपरिग्रह का आदर्श नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से तो उचित है ही दुनियावी नजरिए से भी सही है।

× × × ×

अब जमाना आ गया है कि सार्वजनिक संस्थाओं को भी स्वावलम्बी बनाने की जरूरत है, सिर्फ सरकारी ग्रान्टों पर इन्हें संचालित करते रहना दिन-दिन कठिन हो रहा है। स्वराज्य मिलने के बाद वर्धा की कुछ रचनात्मक संस्थाओं ने बापू से पूछा था, 'अब तो सरकार हमारी है, उसकी ग्रान्ट लेने में क्या हर्ज है?' गांधीजी ने गम्भीरता

पूर्वक कहा, 'हाँ, अब सरकार अपनी ही है, लेकिन हमारी संस्थाओं को सरकारी धन से दूर रहना है, उन्हें स्वाश्रयी बनने की पूरी कोशिश करना होगा।' इस विचार को समझाते हुये उन्होंने सुझाया, 'संस्था के पास कुछ जमीन होनी चाहिए जिस पर मेहनत कर जरूरी अन्न, फल, तरकारी आदि उत्पन्न किए जांय। वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए चर्खा तो है ही। दूसरे ग्रामोद्योग भी चलाने चाहिए और शुद्ध दूध के लिए गोशाला। इस तरह हमारी संस्थाएँ अगर स्वावलम्बी बनेंगी तो भविष्य में सुचारु रूप में चलगी, शासन पर निर्भर रहेंगी तो बिखर जावेंगी।'

बापू की दृष्टि कितनी दूरदर्शी थी। आज हम देख रहे हैं कि बहुत से अच्छे संगठन सरकारी धन के बोझ से फीके और तेजहीन बन गए हैं। पण्डित जवाहरलालजी ने भी एक बार हमें सावधान किया था, 'सरकारी हाथ बड़ा भारी होता है, जिस संस्था पर रख दिया जाता है, वह चकनाचूर हो जाता है।'

हम जानते हैं कि कई शिक्षण-संस्थाएँ सरकारी ग्रान्टों को लेने के लिए अपने हिसाब-किताब में कितनी चालाकियाँ करने लगी हैं। बहुत से स्कूल और कालेज 'शिक्षण केन्द्र' नहीं, 'दुकानें' बन गए हैं जहाँ शर्मनाक व्यापार चलता है। खादी, ग्रामोद्योग, हरिजन-सेवा सम्बन्धी कई रचनात्मक संस्थाएँ भी सरकारी योजनाओं के चक्कर में पड़ गई हैं। यह तथ्य बहुत दुखद है, किन्तु उतना ही सच भी है। सोने के बरतन ने सत्य को किस बेशरमी से ढांक रखा है।

जो बात संस्था में लागू है वह व्यक्तियों के लिए भी सावधानी का विषय है। हम देखते हैं कि देश के अच्छे-अच्छे रचनात्मक कार्यकर्त्ता सरकारी या संस्थाओं के वित्तीय जाल में फंस गए हैं और बेहद परेशान हैं। उन्हें कई प्रकार से अपमानित होना पड़ता है। किन्तु जो जन-सेवक अपने पैर पर खड़े हैं, वे सम्मानपूर्वक व शान्ति से रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। राजनीति में भी यही हाल है। जिसके पास जीवन-निर्वाह का निजी प्रबन्ध नहीं है वह नेताओं के सामने तरह-तरह की गर्जों के लिए हाथ पसारते रहते हैं। रहीम ने ठीक ही लिखा है—

आब गई, आदर गया नैनन गया सनेह।
रहिमन ये तीनों गये जबहि कहा 'कछु देहु'॥

मुझे एक वरिष्ठ नेता के बारे में बड़ी दुखदाई जानकारी मिली है। उन्होंने अपने जीवन काल में ही अपनी सारी सम्पत्ति पुत्रों के नाम कर दी ताकि उनके स्वर्गवास के बाद बच्चों को किसी तरह की कठिनाई न हो। लेकिन जब वे बीमार पड़े, या आर्थिक तंगी महसूस हुई तो परिवार का कोई भी व्यक्ति उनके पास न आया और न कोई मदद दी। स्वर्ण की माया कितनी बलवान व नीचे गिराने वाली होती है! वह पिता-पुत्र व भाई-भाई के बीच आकर कितनी निर्दयता से सभी मानवीय मूल्यों का मजाक बनाती है और हंसती है!

कांचन की इस माया से किस तरह छुटकारा मिले? स्पष्ट है कि यह संयम और विवेक द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसी दृष्टि से गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' आदर्श का

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

—दादा धर्माधिकारी

मैं इस बात को नहीं मानता कि हर देश की सभ्यता (सिविलाइजेशन) अलग होती है। मानव की सभ्यता सर्वत्र एक ही है। लेकिन कोई अगर मुझसे पूछे कि भारत की सभ्यता की विशेषता क्या है, तो मैं तीन बातें बताऊँगा।

एक, भारतीयों ने तुलसी के रूप में वृक्ष-वनस्पतियों को और दूसरी, गाय के रूप में पशुओं को अपने कुटुम्बीय (परिवारजन) माना है। आज शास्त्र कह रहे हैं कि वनस्पति-सृष्टि का मानव-जाति के साथ अभेद्य सम्बन्ध है। अद्यावत् अनुसन्धान यह भी कहने लगा है कि पशुओं का भी मानवजाति के साथ वैसा ही सम्बन्ध है। जंगल के बाघ, सिंह, सर्प आदि पशुओं की संख्या कम होने से उसका असर वनस्पति-सृष्टि पर होता है और वनस्पतियों की पैदावार कम होने लगती है। मतलब, जिन्हें हम भयावह क्रूर पशु मानते हैं, वे भी मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक हैं, यह बात अब सिद्ध हो गई है। इसलिए वनस्पति और पशुओं के बारे में भारतीय संस्कृति की यह जो मान्यता है, उसको अब हम लोकभ्रम नहीं कह सकते।

भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता यह है कि भारत की किसी भी भाषा में 'सेटन' शब्द के लिए प्रतिशब्द नहीं है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में शैतान की कल्पना ही नहीं है। शैतान यानी ईश्वर की सृष्टि पर प्रभुत्व जमाने वाली प्रतिसत्ता। अन्य संस्कृतियों में उसको मान्यता है। लेकिन भारत के दर्शन ने ईश्वर को एकमेवाद्वितीय, सर्वव्यापी, सर्वसत्ता माना है, इसलिए ईश्वर के साथ सामना करने वाली शैतान की कल्पना भारतीय चित्त में अंकुरित नहीं हो सकती। अगर शैतान है, तो उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? वह अगर स्वयंभू है तो ईश्वर का अद्वितीयत्व और सर्वशक्तिमत्ता असिद्ध होते हैं। फिर, अगर यह मानें कि उसको ईश्वर ने ही पैदा किया है, तो तब ईश्वर के शासन के खिलाफ उसका शासन चलना असंभव है। तात्पर्य, भारतीय तत्त्वज्ञान में सृष्टि पर एक ईश्वर की ही-सत्ता की सत्ता माना गया है। असत् को आभासमय माना है।

इसलिए हम मानते हैं कि किसी के भी अन्तःकरण में शैतान का राज्य नहीं हो सकता, ईश्वर का—सद्भावना का ही राज्य हो सकता है—और वह सद्भावना जागृत करने का हम श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करते हैं। ❀

प्रतिपादन किया था। वे चाहते थे कि धनी-वर्ग अपने धन का उपयोग अपने भोग-विलास के लिए नहीं, वरन् जनता-जनार्दन के कल्याण के लिए करे। कुछ अमीर लोग आम के वृक्ष जैसे होते हैं, जो थके हुए यात्रियों को शीतल छाया देते हैं और मीठे फल भी। और कुछ खजूर के पेड़ की तरह होते हैं—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागैं अति दूर॥

श्री आदि शंकराचार्य रचित 'विवेक-चूडामणि' में संसार की स्वर्णिम माया को जीतने का एक अमोघ अस्त्र बतलाया गया है, और वह है 'आत्म-दर्शन'। जब तक हम इन्द्रियों की विषय-वासना के कुचक्र में जकड़े रहते हैं तब तक यह मृग-तृष्णा हमारा पीछा नहीं छोड़ती। विवेक द्वारा ही हम कांचन-मोह से विरक्त होकर सत्य का बोध कर सकते हैं—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः॥ ❀

लेखक बन्धुओं से निवेदन

'सिद्धयोग' के सभी प्रेमी पाठकों, सुलेखकों एवं कवियों को सुविदित है कि श्री महाप्रभुजी की जयन्ती पर जो चैत्र शुक्ला नवमी को प्रति वर्ष मनायी जाती है 'सिद्धयोग' अपना एक विशेषांक प्रकाशित करता रहा है ; इस वर्ष भी यह विशेषांक इस अवसर पर यानी २६ मार्च ८८ ई० रामनवमी पर प्रकाशित होगा। चूंकि रामनवमी महोत्सव इस वर्ष अप्रेल में नहीं किन्तु मार्च के तृतीय सप्ताह में ही २४, २५, २६ मार्च को ही सम्पन्न होना है, इसलिये विशेषांक का प्रकाशन भी मार्च के दूसरे सप्ताह तक ही हो जाना आवश्यक है। अतः अपने सभी आदरणीय लेखकों और कवियों से तथा योग-पथ प्रेमी अन्य सभी भाई-बहिनों से हमारा अनुरोध है कि विशेषांक में प्रकाशनार्थ वे अपनी योगाङ्ग परक मौलिक रचनायें हमें २५ फरवरी ८८ तक ही प्रेषित कर देने की कृपा करें। सभी रचनायें स्पष्ट और सुपाठ्य अक्षरों में लिखी होनी चाहिए जहाँ तक हो कागज के एक ही ओर लिखकर भेजना सुविधाजनक रहेगा। अति-विलम्ब से आने वाले लेखों का विशेषांक में प्रकाशित होना कठिन ही रहेगा। आशा है इस विनम्र निवेदन पर ध्यान देने की कृपा सभी सुलेखक बन्धु करेंगे।

विनीत :

—संयुक्त सम्पादक

नये वर्ष का मूल्य भेजिए

'सिद्धयोग' के वर्तमान वर्ष में ग्राहक-बन्धुओं की सेवा में मार्च सन् ८८ का अङ्क कार्यालय से और भेजा जायेगा। इसे मिल जाने के बाद वर्तमान वर्ष का मूल्य जो जमा कराया गया था, पूरा हो जायेगा। अतएव सभी ग्राहक भाई-बहनों को नये २१ वें वर्ष का मूल्य ३० रुपये मनीआर्डर द्वारा अपने पूरे पते के साथ 'सिद्धयोग' कार्यालय सवाई धाम (एत्मादपुर) आगरा के पते पर भेज देना चाहिए, ताकि विशेषांक सहित सभी आगामी उन्हें बिना किसी अवरोध के नियमरूपेण प्रेषित किये जाते रहें।

व्यवस्थापक—

'सिद्धयोग' कार्यालय

'सिद्धयोग' प्रशिक्षण केन्द्र,
सवाई—आगरा।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Febr. 1988

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, बसई (फतेहपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

....

....

....

प्रेरक शक्ति के स्रोत ब्रह्मनिष्ठ गुरु

ग्रन्थों के अध्ययन से कभी-कभी हम भ्रम में पड़ जाते हैं कि उनसे हमें आध्यात्मिक सहायता मिलती है, किन्तु यदि हम अध्ययन से पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि अधिक से अधिक हमारी बुद्धि पर ही अध्ययन का प्रभाव पड़ा है न कि अन्तरात्मा पर। आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में ग्रंथों का अध्ययन अपर्याप्त है, क्योंकि हममें से प्रायः सभी ऐसे ग्रंथ अध्ययन के फलस्वरूप आध्यात्मिक विषय पर अत्यन्त रोचक-भाषण दे सकते हैं, पर जब प्रत्यक्ष कार्य तथा वास्तविक आध्यात्मिक जीवन बिताने की बात आती है, तब अपने को पूरी तरह अयोग्य पाते हैं। आध्यात्मिक जागृति के लिए तो ग्रन्थों के अध्ययन से नहीं, किन्तु ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ही प्रेरक शक्ति प्राप्त हो सकती है।

—स्वामी विवेकानन्द

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा-१ फोन ६५८२६